खोजबीन

अंक : 5
जनवरी–फरवरी 2009

किताबों की रोशनी में बच्चे

खोजबीन

अंक–5

जनवरी–फरवरी 2009

इस अंक में पढ़िए

मौजूदा शिक्षा व्यवस्था ऐसी है कि इसमें पुस्तकालयों का कोई स्थान नहीं है। पुस्तकालयों में जो पुस्तकें होती हैं वे भी स्तरीय नहीं होतीं। पुस्तकालय की ज़रूरत को पैदा करने के लिए पढ़ने के कौशल को विकसित करने की ज़रूरत है। जिस सांस्कृतिक स्थिति में स्कूल चल रहा है उसमें भी दरअसल बच्चों के लिए पुस्तकें पढ़ना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती है।

अर्थ पकड़ना प्राथमिकता होनी चाहिए। अर्थ आधारित और ध्वनि आधारित पढ़ाई के रास्ते फ़र्क़–फ़र्क़ हो जाते हैं। यह इतना गहराई से एक तरह का समाजीकरण है कि इस व्यवस्था को तोड़ने या बदलने को लेकर जब भी कोई काम होता है तो उसमें अड़चनें होती हैं।

पुस्तकालय पर सम्मेलन 1
सवाल पुस्तक संस्कृति को विकसित...4
–कृष्ण कुमार
हाशियाकृत समाज के बच्चों की शिक्षा में पुस्तकालय की भूमिका... 16
–साधना सक्सेना
पुस्तकालय–पद्धति 23
–गिजुभाई
शुरुआती पढ़ाई और शाला... 25
–ए. के. जलालुद्दीन
पुस्तकालय और एनसीएफ–2005 29
अपना पुस्तक कोना 31
किताब पढ़ने की आदत 35
–कृष्ण कुमार
पढ़ना कला है कर्मकांड नहीं 37
–रमेश दवे
पुस्तकालय के मायने 40
–हृदय कांत दीवान
कक्षा में दीगर किताबें 42
–शहनाज़ डी.के.

कक्षा पुस्तकालय का लगातार दो साल तक उपयोग करनेवाले बच्चों की भाषा पर क्या प्रभाव पड़ा इसे देखने के लिए विद्या भवन में गठित रिसर्च फोरम के माध्यम से लघु शोध बच्चों के साथ किया गया। इसमें पाया गया कि जो बच्चे ज़्यादा किताबें पढ़ते हैं उनकी भाषागत दक्षताएं बढ़िया होती हैं।

लाइब्रेरी में मैग्ज़ीन 47
–पल्लव
कल्पनाओं को पर लगा देती हैं... 49
–गोविंद सिंह गहलोत
मैं बर्तन मांजूंगा 50
–हेमराज भट्ट
किताबें और बच्चे 52
–सरन काला
किताबों की रोशनी में बच्चे 54
–के.आर.शर्मा
पुस्तकालय तेरे रूप अनेक 58
–ऋचा गोस्वामी
कोई लौटा दे मेरे बचपन के दिन 61
–वि.वि सिंह
अश्लील पुस्तकें 63
–हरिशंकर परसाई

सहयोग राशि – *पच्चीस रुपये, वार्षिक चंदा : एक सौ पचास रुपये (डाक ख़र्च सहित)। चैक या बैंक ड्राफ़्ट विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर के नाम से बनवाएं। चंदा मनीआर्डर से भी भिजवाया जा सकता है।*

परामर्श एवं प्रबंध	संपादक	संपादन सहयोग	चित्रांकन	ले–आउट
हृदय कांत दीवान	के.आर. शर्मा	कुमार अनुपम गिरीश शर्मा	प्रशांत सोनी	इसरार अहमद

रचनाएं भेजने और पत्र–व्यवहार के लिए संपर्क करें

विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र, फतहपुरा, उदयपुर (राज.)

email : vbsudr@yahoo.com, फोन : 0294–2451497

सौजन्य : आईसीआईसीआई (सेंटर फॉर एलिमेंट्री एज्यूकेशन) के सहयोग से।

विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में पुस्तकालय पर सम्मेलन : कुछ अनुशंसाएं

विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर और सेंटर फॉर साइंस एज्यूकेशन, दिल्ली के संयुक्त प्रयास से ''पुस्तकालय और पठन'' पर एक सम्मेलन का आयोजन कर स्कूली शिक्षा पर न केवल सवाल उठाए गए बल्कि उनके हल की ओर सार्थक रूप से आगे बढ़ने की कोशिश भी की गई है। दिनांक 3 से 5 ऑक्टोबर 2008 के दौरान उदयपुर में आयोजित विद्यालयीन पुस्तकालय और पठन सम्मेलन में स्कूली शिक्षा के मसले छाए रहे। मौजूदा शिक्षा व्यवस्था ऐसी है कि इसमें पुस्तकालयों का कोई स्थान नहीं है। पुस्तकालयों में जो पुस्तकें होती हैं वे भी स्तरीय नहीं होतीं। पुस्तकालय की ज़रूरत को पैदा करने के लिए पढ़ने के कौशल को विकसित करने की ज़रूरत है। सम्मेलन के प्रथम सत्र में एनसीईआरटी के प्रो. कृष्ण कुमार ने कहा कि मौजूदा शिक्षा व्यवस्था, परीक्षा पद्धति, राजनीतिक दखल, प्रकाशन, बाज़ार का भ्रष्टाचार, पुस्तकालय व सीखने–सिखाने की प्रकृति को हतोत्साहित कर रहे हैं। सरकारी आयोगों, योजनाओं एवं शिक्षाविदों में आम सहमति के बावजूद देश में पुस्तकालय व 'पठन' का वास्तविक व वांछित विकास नहीं हो पाया है। हम इंटरनेट के युग में जी रहे हैं जहां इस जंगल में से सही और उपयोगी सामग्री अपने लिए ढूंढ़ना टेढ़ी खीर है। इसकी समझ भी होनी होगी।

सम्मेलन में दिल्ली विश्वविद्यालय की

शोभा सिन्हा, साधना सक्सेना, विजय एस. वर्मा, अमिताभ मुखर्जी, टेक्सास विश्वविद्यालय, अमेरीका की प्रो. केरोल जॉनिश, एकलव्य, दिगंतर, एनईजी फायर, सर्व शिक्षा अभियान आंध्रप्रदेश, केयर इण्डिया और विद्या भवन सोसायटी ने पुस्तकों व पठन पर अपने अनुभवों को बांटा। इस सम्मेलन के माध्यम से इस विमर्श को आगे बढ़ाने की कोशिश की गई कि सामान्यतया स्कूलों में जब कोई खाली पीरियड होता है तो उसमें पुस्तकालय को महज़ खानापूर्ति के रूप में देखा जाता है। जैसे कि कोई शिक्षक नहीं है तो बच्चों को लाइब्रेरी की किताबें दे दी जाएं समय काटने के लिए। ज़रूरी यह है कि पुस्तकें बच्चों की शिक्षा का अहम हिस्सा बनें।

सम्मेलन में इस बात पर चिंताएं व्यक्त की गईं कि जिस प्रकार की पाठ्यपुस्तकें लिखी जा रही हैं वे बच्चों के लायक नहीं होतीं। स्कूलों में यह दृश्य आम होता है कि कोई बढ़िया सी कहानी पढ़ने के बाद ऐसे निरर्थक सवाल पूछे जाते हैं जिससे उस कहानी का मज़ा ही किरकिरा हो जाता है। ये सवाल ऐसे होते हैं जो बच्चों के स्वतंत्र चिंतन को कुंद करते हैं। शिक्षा व्यवस्था विद्यार्थियों पर ज्ञान थोपने, प्रश्नों का उत्तर जानने तथा परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने तक ही सीमित है। बच्चों के पूर्व ज्ञान, उनके परिवेश, भावनाओं तथा शिक्षक–विद्यार्थी के परस्पर अंतःक्रिया से ज्ञान व समझ निर्माण पर ध्यान नहीं दिया जाता है।

इस सेमीनार में कुछ बातें ठोस रूप से उभरकर आईं जिनके आधार पर

शिक्षा की रणनीति बनाई जानी चाहिए। जैसे कि –

- पुस्तकालय महज़ किताबों का संग्रह न बने बल्कि वे रुचिपूर्ण, जीवंत और गतिशील होने चाहिए।
- पुस्तकों के चयन और प्रकाशन में पारदर्शिता हो, भ्रष्टाचार मिटे साथ ही स्थानीयता, विद्यार्थी की दिलचस्पी, भाषा एवं पूर्व ज्ञान को महत्त्व दिया जाना चाहिए। पुस्तकों के चयन को विकेंद्रीकृत करने की सख़्त ज़रूरत है।
- राज्यों में कार्यरत एससीईआरटी तथा डाइट्स संस्थानों और स्कूलों को सशक्त बनाने की ज़रूरत है।
- वर्तमान शिक्षा व्यवस्था परीक्षा केंद्रित है जो महज़ ज्ञात प्रश्नों और जवाबों तक सीमित है। प्रश्नों के निर्माण में विद्यार्थी की खोजने की प्रवृति और स्वयं का मत व्यक्त करने की गुंजाइश नहीं है। इस प्रक्रिया को तोड़ने में पुस्तकालय अहम भूमिका अदा कर सकते हैं।
- हिंदी में अनूदित विज्ञान,

स्कूलों में पढ़ने के साथ–साथ समझ, संवाद और प्रतिक्रिया की गुंजाइश नहीं है। यह काफ़ी गंभीर मुद्दा है। यह बात तो विद्यार्थी के स्कूल के शुरुआती दिनों में हो जानी चाहिए। यही कारण है कि बी.एड. का प्रशिक्षण लेने वाले छात्राध्यापक कई परीक्षाएं पास करने के बावजूद वे किसी अवधारणात्मक मुद्दों पर चर्चा नहीं कर पाते।

गणित, शिक्षा विज्ञान, मनोविज्ञान और शिक्षाशास्त्र की किताबें विद्यार्थियों और शिक्षकों के लिए अस्वाभाविक और जटिल होती हैं। अतः इनके भारतीय भाषाओं में बेहतर अनुवाद की ज़रूरत है।

- हिंदी की शुद्धता उसके संस्कृत के क़रीब होने से और तथाकथित मानक भाषा के क़रीब होने से नहीं है बल्कि उसके सामान्य पाठक के करीब और उसके समझ में आनेवाली होनी चाहिए। अख़बार और पत्रिकाओं जैसी भाषा ही किताबों और पाठ्यपुस्तकों की होनी चाहिए।
- किताबें ऐसी हों जो आकर्षक और चित्रमय हों।
- शिक्षक और पुस्तकालय संचालक के बीच सीधा संपर्क होना चाहिए। किताबों के चुनाव, उपयोग आदि को लेकर शिक्षकों और पुस्तकालय संचालकों का सघन प्रशिक्षण होना चाहिए।
- हर गांव और स्कूल में पुस्तकालय होना चाहिए। पुस्तकालयों में कंप्यूटर, इंटरनेट आदि सुविधाएं भी होनी चाहिए।
- यह देखा गया है कि बड़ों के द्वारा तय की गईं किताबें बच्चों को पसंद नहीं आतीं। इस प्रकार बच्चों की कल्पना, सोच और समझ तब तक नहीं बनती जब तक कि उनको ज़्यादा पुस्तकें नहीं मिलतीं।
- ग़लतियों पर ज़ोर देना, अक्षरों को तोड़कर पढ़ाना, पढ़ने में मदद नहीं करते।
- एक सक्षम पाठक अक्षर–दर–अक्षर नहीं पढ़ता। वह पूर्वानुमान लगाकर पढ़ता है, अपने अनुभवों के साथ जोड़कर पढ़ता है। इसकी समझ धीरे–धीरे बढ़ती है। इस समझ के साथ बच्चों का शिक्षण होना चाहिए।

जब बच्चा पढ़ रहा होता है तो क्या हो रहा होता है इसको समझने की ज़रूरत है। आख़िर बच्चे सीखते कैसे हैं? बच्चा अपने घर से स्कूल आता है तो क्या वह कोरी स्लेट होता है? शिक्षा का तानाबाना इस प्रकार बुनने की ज़रूरत है कि बच्चे को समझने का प्रयास करते हुए शिक्षा दी जाए। हम स्कूलों में बच्चे के पूर्व ज्ञान की उपेक्षा करते हैं। बच्चा जो भी जानता है उसको हम कहीं किसी प्रकार का स्थान और महत्त्व नहीं देते हैं। बच्चा जब बोलना सीखता है तो ग्रामर नहीं सीखता। जब शिक्षक पढ़ाते हैं तो वर्तनी, मात्रा आदि पर ज़ोर होता है। भाषा के अर्थ अक्षर या शब्द से नहीं निकलते बल्कि वाक्य या उस पाठ्य से निकलते हैं।

दरअसल हम पढ़ने को क्या समझते हैं? बच्चा जब पढ़ना सीखता है उसके पहले ही पढ़ने की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। जैसे कि बच्चा किसी को पढ़ते हुए देखता है या लिखते देखता है, बच्चा चित्र देखता है वह बाज़ार की चीज़ों को पहचान लेता है। आम तौर पर मध्यमवर्गीय परिवारों में बच्चों को घर में काफ़ी मौक़े मिलते हैं। किताबों और प्रिंट की गई सामग्री से उसका सरोकार होता है। लेकिन ऐसे परिवारों में जहां लिखने–पढ़ने का कोई माहौल ही नहीं है, जहां मां–बाप दो जून की रोटी के लिए संघर्ष करते दिखाई देते हैं; उनके बारे में कुछ सार्थक करने की ज़रूरत है। जिन बच्चों को घर में ऐसे मौक़े नहीं मिल पाते उनके लिए स्कूलों में क्या करना चाहिए? यह सवाल प्रमुख रूप से उभरकर आया।

स्कूलों में पढ़ने के साथ–साथ समझ, संवाद और प्रतिक्रिया की गुंजाइश नहीं है। यह काफ़ी गंभीर मुद्दा है। यह बात तो विद्यार्थी के स्कूल के शुरुआती दिनों में हो जानी चाहिए। यही कारण है कि बी.एड. का प्रशिक्षण लेनेवाले छात्राध्यापक कई परीक्षाएं पास करने के बावजूद किसी अवधारणात्मक मुद्दों पर चर्चा नहीं कर पाते। पुस्तकालयरूपी संसाधन को विद्यालयों में उपलब्ध करा देने मात्र से ही समाधान नहीं निकल सकता। पुस्तकों के चयन, शिक्षण प्रक्रिया तथा मूल्यांकन के तरीक़ों में भी परिवर्तन लाने होंगे। पुस्तकालय और पुस्तकों को विद्यार्थियों के अनुरूप बनाना होगा।

जब बच्चा पढ़ रहा होता है तो क्या हो रहा होता है इसको समझने की ज़रूरत है। आख़िर बच्चे सीखते कैसे हैं? बच्चा अपने घर से स्कूल आता है तो क्या वह कोरी स्लेट होता है?

सेमीनार–1

सवाल पुस्तक संस्कृति को विकसित करने की ज़रूरत का है

कृष्ण कुमार

मित्रो, मुझे बहुत प्रसन्नता है कि विद्या भवन ने पुस्तकालय एवं पठन पर इतनी लम्बी गोष्ठी का आयोजन किया है। अपने आपमें यह अभूतपूर्व काम है। हमारी व्यवस्था में यह एक ऐसा विषय है जिसके बारे में निःसंकोच कहा जा सकता है कि इसकी लगातार अवहेलना हुई है। इस दृष्टिकोण से आज के सम्मेलन का बहुत विशेष महत्त्व है।

इस वक्तव्य के बिल्कुल शुरुआत में मैं एक ऐसी बात कहना चाहूंगा जो शायद आपको कुछ नागवार गुज़रे। हमारी व्यवस्था में बावजूद इसके कि कोई भी इस बात से असहमत नहीं है कि स्कूलों में लाइब्रेरी होनी चाहिए और पढ़ने पर ज़ोर होना चाहिए। बावजूद तमाम सहमति के अगर हमारी व्यवस्था में स्कूलों में पुस्तकालय नहीं हैं या जो हैं भी वे ठीक से नहीं चल पा रहे हैं और पढ़ने की क्षमता का विकास करनेवाली परिस्थितियां स्कूलों में क्या, शिक्षकों के प्रशिक्षण संस्थानों में भी नहीं हैं और बहुत करके हमारे महाविद्यालयों में भी नहीं हैं तो मैं कहना चाहूंगा कि शायद इसका एक कारण है कि आज हमारी शिक्षा व्यवस्था जिस भी स्थिति में है, इस शिक्षा व्यवस्था को दरअसल लाइब्रेरी की ज़रूरत नहीं है। और इस कारण जिस चीज़ की ज़रूरत नहीं है अगर वह पैदा नहीं होती या पैदा की जाने पर भी अगर वह पल्लवित नहीं होती तो बहुत चकित और न ही बहुत निराश होना चाहिए। जिस चीज़ की ज़रूरत नहीं है वह अगर ठीक से काम नहीं कर रही है तो कौन सा आश्चर्य है। इस बात को कहते हुए मैं केवल एक तर्क की ख़ातिर तर्क नहीं दे रहा हूं बल्कि वास्तव में इस दृष्टिकोण से विचार करना चाहता हूं कि क्या हमारी स्कूली व्यवस्था में लाइब्रेरी की आवश्यकता है?

अगर आप सिर्फ़ दस्तावेज़ों पर जाएंगे और मुदालियार आयोग जो 1952–53 में स्थापित हुआ था, वहां से लेकर कोठारी आयोग से गुज़रते हुए राममूर्ति इत्यादि आयोगों से होते हुए और अभी जो मेरी संस्था ने राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा यानी नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क–2005 बनाया है और जो

अब एक नीति बन चुकी है वहां तक आएंगे तो आपको लगेगा कि भारत में आज़ादी के पहले से ही लगातार इस बात को लेकर सहमति रही है कि स्कूलों में लाइब्रेरी होनी चाहिए। मुझे लगता है कि सबसे पहले इसकी पुरज़ोर वक़ालत मुदालियार आयोग ने शुरू में ही कर दी थी। अगर उसके भी पीछे जाएं तो आज़ादी के बाद के पहले राधाकृष्णन आयोग ने भी विश्वविद्यालयी शिक्षा के सन्दर्भ में लाइब्रेरी के महत्त्व पर बहुत गहरा प्रकाश डाला था। तो अगर दस्तावेज़ों से चलेंगे तो आपको लगेगा कि मैं व्यर्थ में कुछ समय बरबाद कर रहा हूं क्योंकि हर दस्तावेज़ ने माना है कि लाइब्रेरी होनी चाहिए, ठीक से चलनी चाहिए। और जहां तक लाइब्रेरी चलाने के लिए विशेषज्ञों की ज़रूरत है या प्रशिक्षण की ज़रूरत है उसके भी पर्याप्त साधन हमारे देश में विकसित हुए हैं।

हम देखते हैं कि बी.लिब., एम. लिब. कोर्सेज आजकल अनेक विश्वविद्यालयों में दिए जा रहे हैं। तो ऐसा नहीं है कि लाइब्रेरियन नाम का व्यक्ति बनाने की ओर ध्यान नहीं गया है। ये सब हुआ है और राष्ट्रीय और प्रान्तीय स्तर पर भी कुछ–कुछ प्रयास होता ही रहा है। राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकाता एक राष्ट्रीय स्तर की संस्था है, सम्मानित है भले ही कई समस्याओं और दुविधाओं से ग्रस्त है लेकिन फिर भी इसका एक महत्त्व है। राजा राम मोहन राय नाम से एक न्यास यानी एक ट्रस्ट केन्द्र सरकार ने स्थापित किया था। देशभर में प्रान्तीय सरकारों और ग़ैर सरकारी संगठनों को पुस्तकालय चलाने के लिए अनुदान देने का भी काम कर रहा है और उसके अनुदान से कई पुस्तकें पहुंच भी रही हैं।

इस तरह से देखें तो ऐसा लगता है कि जहां तक दस्तावेज़ों और नीतियों का प्रश्न है, कोई भी इससे असहमत नहीं दिखता है कि लाइब्रेरी नहीं होनी चाहिए। फिर भी मैं यह बात आपसे कुछ ज़ोर देकर और मज़ाक के तौर पर नहीं वास्तव में कहना चाहता हूं कि हमारी व्यवस्था मे दरअसल लाइब्रेरी की ज़रूरत नहीं है। इसका एक कारण है और मेरी इस बात का कारण दरअसल आपको मालूम है। अगर आप अपने इर्द–गिर्द बहुत अच्छे नम्बर पानेवाले लड़के–लड़कियों पर ग़ौर करें जो कि दसवीं व बारहवीं की परीक्षा में ऊंचे अंक लेकर निकलते हैं तो आप पाएंगे कि उनकी इस उपलब्धि स्तर में पुस्तकालय का योगदान नाममात्र का या प्रतीक जैसा भी नहीं है।

अगर एक दिन से आपको बहुत सन्तुष्टि नहीं मिलती है और आप सोचते होंगे कि आज सोमवार हो सकता है या कोई विशिष्ट दिन तो हम मंगलवार को चलते हैं। मेरा आपसे आग्रह है कि आप पूरा सप्ताह वहां बिताएं चाहे उदयपुर, जयपुर या दिल्ली में या ऐसी संस्था में जो अच्छी ख़ासी फ़ीस लेती हो। अंग्रेज़ी माध्यम स्कूल हो, यह सब चीज़ें उसमें हों और आप पूरा सप्ताह वहां बिताएं और देखें कि लाइब्रेरी का उपयोग कितने बच्चों ने किया? कितने अध्यापकों ने किया तो आप यह देखकर हैरान होंगे कि लाइब्रेरी का कोई विशेष इस्तेमाल पूरे सप्ताह में नहीं होता।

दरअसल अगर आप इस प्रश्न को थोड़ा और गहराई में जाने के लिए तराशेंगे तो आप पाएंगे कि ये कोई देखने लायक बात ही नहीं है। क्योंकि हमारी शिक्षा व्यवस्था जिस तरह से आज चल रही है उस व्यवस्था में

इस तरह से देखें तो ऐसा लगता है कि जहां तक दस्तावेज़ों और नीतियों का प्रश्न है, कोई भी इससे असहमत नहीं दिखता है कि लाइब्रेरी नहीं होनी चाहिए। लेकिन फिर भी मैं यह बात आपसे कुछ ज़ोर देकर और मज़ाक के तौर पर नहीं वास्तव में कहना चाहता हूं कि हमारी व्यवस्था में दरअसल लाइब्रेरी की ज़रूरत नहीं है।

अगर आप देखना चाहते हैं ज़मीन के स्तर पर तो किसी आला से आला समझे जानेवाले स्कूल में पूरा दिन बिताइए और देखिए कि उस दिन का कितना हिस्सा अध्यापकों ने या बच्चों ने लाइब्रेरी में बिताया। परीक्षा इतनी प्रमुख है कि उसके लिए शिक्षा के किसी भी मूल्य की बलि चढ़ाना किसी भी मूल्य को एकदम छोड़ देना भी उपयोगी माना जाता है। मान लीजिए कि परीक्षा के विषय में कि आप जो पढ़ें ईमानदारी

से पढ़ें, समझ कर पढ़ें और जितना आता है ईमानदारी से उतना बताएं।

जिस सांस्कृतिक स्थिति में स्कूल चल रहा है उसमें भी दरअसल बच्चों के लिए पुस्तकें पढ़ना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती है।

अगर उन उसूलों पर कोई लड़का या लड़की चले तो वह शायद पास भी नहीं हो सकता। फर्स्ट क्लास या मेरिट लिस्ट में आना तो सम्भव ही नहीं होगा। बहुत ऊंचे अंक आप तभी लेकर आ सकते हैं परीक्षाओं में जब आप उसूलों पर ना चलें यानी आप ज़्यादा से ज़्यादा ज्ञान रट लें, उसको समझने में ज़्यादा ध्यान न दें। गणित हो चाहे विज्ञान हो, आप बार बार अभ्यास करें। आप बग़ैर समझे हुए इतना अभ्यास करें कि प्रश्न क्या है, आप उसका उत्तर लिख सकें तो आप पाएंगे कि ऐसा करने पर आपके अंक बढ़ जाएंगे।

यही कारण है कि इस तरह की ट्रेनिंग देनेवाली संस्थाएं इतना पैसा हमारे शहरी माता–पिताओं से कमा रही हैं। इन संस्थाओं को कोचिंग इन्स्टीट्यूट बोलते हैं। नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क में इनको "स्कूल आउट साइड द स्कूल" की संज्ञा दी गई है। वो स्कूल जहां हर बच्चे स्कूल के बाहर जाते हैं। वहां उनको ऐसी दक्षताएं दी जाती हैं जिससे कि वो इम्तहानों में अच्छे अंक पा सकें। सिर्फ़ इम्तहानों में ही नहीं वो हमारे देश की सर्वोच्च माने जानेवाली आई.आई.टी. और मेडीकल कॉलेजों में प्रवेश के लिए होनेवाली परीक्षाओं मे भी अच्छे से अच्छे अंक लेकर अपनी प्रतियोगी हैसियत बना सकें। उस पूरी प्रक्रिया के लिए कहीं इस तरह की चीज़ का कोई महत्त्व नहीं है कि कोई लाइब्रेरी का इस्तेमाल करनेवाला हो या कि लाइब्रेरी जाकर किताबों में मक़बूल रहनेवाला हो, तरह–तरह की किताबें पढता हो। ऐसा बच्चा आज आई.आई.टी. में प्रवेश नहीं पा सकता, किसी मेडीकल कॉलेज में नहीं आ सकता। मेरा तो अन्दाज है कि वो दिल्ली विश्वविद्यालय में जहां मैं आम तौर पर पाया जाता हूं या कि और विश्वविद्यालयों में भी नहीं आ सकता क्योंकि इन विश्वविद्यालयों में एक सघन प्रतियोगिता से आप गुज़रते हैं, तभी आप पहुंच पाते हैं। यह प्रतियोगिता पूरी तरह परीक्षा पर आधारित है। और आज की परीक्षा व्यवस्था में इस बात की गुंजाइश नहीं है कि वह इस बात पर ध्यान दे कि किसी बच्चे को लाइब्रेरी के केटलॉग का इस्तेमाल करना आता है कि नहीं। क्या उसने बग़ैर किसी के कहे हुए वर्ष में आठ–दस किताबें ख़ुद अपनी रुचि से पढ़ीं या कि उसमें किताबें पढ़ने की रुचि है भी कि नहीं। यह मुद्दा सिर्फ़ परीक्षा व्यवस्था का ही है, ऐसा मत सोचिए। आप किसी नामीगिरामी स्कूल के रिपोर्ट कार्ड पर विचार करें। इस शहर में भी ऐसे कई स्कूल हैं। आप देखिए किसी का कार्ड। अब तो सरकारी स्कूलों में भी ऐसे कार्ड बनने लगे हैं जिनसे हर महीने हर यूनिट टेस्ट के बाद माता–पिताओं को बताया जाता है कि क्या–क्या चीज़ें उनके बच्चे में ठीक से चल रही हैं। तो आप पाएंगे कि उसमें अलग–अलग विषयों के नम्बर लिखे होंगे। साथ में कुछ और विशेषताएं भी लिखी होंगी कि उसका व्यवहार कैसा है, उसमें नेतृत्व की क्षमता है कि नहीं, दूसरों से सहयोग करता है कि नहीं। एक्स्ट्रा करिकुलर एक्टीविटीज़ में उसकी रुचि है कि नहीं। इससे आशय होता है कि कला मे रुचि है कि नहीं इत्यादि। लेकिन आपको किसी कार्ड पर ऐसा नहीं मिलेगा कि इस वर्ष उसने कितने उपन्यास पढ़े। क्या उसकी बाल साहित्य में रुचि है? क्या वह अपने आप कुछ किताबें ढूंढ़ता है? अच्छे से अच्छे स्कूल में आपको प्राइमरी या अपर प्राइमरी स्तर पर, सैकण्डरी स्तर पर कहीं ऐसा कोई उल्लेख रिपोर्ट कार्ड में नहीं मिलेगा। इसलिए अगर किसी बच्चे की पढ़ने में रुचि जाग्रत हो गई है और वह पढ़ता है, व ढूंढ़कर किताबें पढ़ता है तो इसका कोई प्रतिबिम्ब आपको उसकी प्रगति पुस्तिका में नहीं मिलेगा।

इस पूरे दृष्टांत से मैं यह सिद्ध करना चाहता था कि अगर आज स्कूल में पुस्तकालयों की दशा अच्छी नहीं है और यह तीन दिवसीय सम्मेलन इस विषय पर विचार करने जा रहा है तो हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि हमारी शिक्षा व्यवस्था में पुस्तकालय की ज़रूरत कैसे पैदा की जाए? क्योंकि आज वह ज़रूरत नहीं है।

इस सब में आप यह भी जोड़ लें कि जिस सांस्कृतिक स्थिति में स्कूल चल रहा है उसमें भी दरअसल

बच्चों के लिए पुस्तकें पढ़ना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती है। एक बड़ा भारी फ़र्क़ हमारी व्यवस्था करती है। हमारी संस्कृति भी करती है। एक वो जिन्हें पाठ्यपुस्तक कहा जाता है– पढ़ने लायक किताब। और दूसरी पुस्तकें दीन–हीन पुस्तकें जो पाठ्य नहीं हैं। पाठ्यपुस्तक क्यों पाठ्य है? इसी कारण पाठ्य है क्योंकि परीक्षा उससे जुडी हुई है। अगर पाठ्यपुस्तक कोई बच्चा कायदे से पढ़ेगा तो परीक्षा में उसके अच्छे अंक लेकर आने की सम्भावना बढ़ जाएगी। श्रेष्ठ बालक तो वो माना जाता है जो न केवल पाठ्यपुस्तक पढ़ता है बल्कि सिर्फ़ पाठ्यपुस्तक पढता है और अन्य पुस्तकों की ओर देखता भी नहीं है। अगर आप माता–पिताओं का सर्वेक्षण करें (ऐसे सर्वेक्षण सन् 50 के दशक से ही लगातार होते रहे हैं) तो ऐसा विचार आपको आम तौर पर सुनने को मिलेगा कि अनाप–शनाप किताबें पढ़ता रहता है। जो पढने लायक हैं उस पर ध्यान नहीं देता है।

सामान्य किताबों को लेकर, ख़ासकर साहित्य को लेकर लड़के और लड़कियों दोनों के सन्दर्भ में एक संशय हमारी संस्कृति में बहुत समय से विद्यमान रहा है। यह संशय लड़कियों के सन्दर्भ में विशेष इस्तेमाल किया जाता है। लड़कों के सन्दर्भ में कुछ कम, लेकिन दोनों के ही सन्दर्भ में इस्तेमाल होता है। यह संशय कुछ–कुछ उन्हीं रूपों में प्रकट होता है जिस तरह वो सिनेमा के सन्दर्भ में प्रकट होता है। हमलोगों की पीढ़ी में तो कहा ही जाता था कि सिनेमा देखोगे तो बरबाद हो जाओगे। सिनेमा भाग–भागकर देखना हमारी पीढ़ी के लिए एकमात्र विकल्प था। उस पीढ़ी में भी किसी शिक्षाविद् ने इस पर विचार नहीं किया कि क्या कारण है कि मार–मारकर तो बच्चा स्कूल जाता है लेकिन भाग–भागकर सिनेमा जाता है? ऐसा क्या आकर्षण है सिनेमा में जो स्कूल में नहीं है? वह जीवन का कौन सा पक्ष है? जीवन के कौन से आयाम हैं जिनको स्कूल नहीं खोल पा रहा है? कुछ–कुछ यही हिस्सा साहित्य पर लागू होता है।

अनेक जीवनियों में आप ऐसे किस्से पढ़ेंगे कि जिन लोगों को साहित्य पढ़ने की इच्छा थी बचपन में उन्होंने भी पाठ्यपुस्तक मे छिपाकर उपन्यास पढ़ा। ख़ासकर उपन्यास की विधा तो हमारी संस्कृति में बहुत समय से जब से इसका जन्म हुआ तभी से बदनाम रही है। क्योंकि उपन्यास को एक तो पढ़ने में समय लगता है और उसमें जीवन की कथा होती है। और बड़ों और बच्चों के बीच हमारे समाज में आधुनिक समय में रिश्ता ही कुछ ऐसा बना है कि बड़े यह नहीं चाहते हैं बच्चों को बचपन में ही जीवन के बारे में मालूम चल जाए। बहुत से प्रश्नों के उत्तर में बच्चों से बड़े कह भी देते हैं कि जब बड़े हो जाओगे तब सब समझ जाओगे। अभी तो नकाब पहनकर सिर्फ़ पढ़ाई करो।

कुछ बच्चों में येन–केन प्रकारेण किसी प्रकार रुचि हो भी जाती है बावजूद इसके कि हर व्यक्ति इस रुचि को तोड़ने की कोशिश करता है, हतोत्साहित करता है। पढ़ने की, किताबों से वंचित रखने का प्रबन्ध हमारी संस्कृति घरेलू भी, सामाजिक भी और स्कूल की संस्कृति भी करती है जिससे वह साहित्य की ओर कहीं प्रवृत न हो जाए। कविता भी कुछ इस तरह से काफ़ी समय तक बदनाम रही है। कई बार मुझे लगता है कि आजकल जो हमारे समय में हिन्दी में कविता लिखी जाती है वैसे ही लोकप्रिय नहीं है जिसको आधुनिक कविता कहते हैं। उसके जन्म का संस्कार भी ऐसे ही पड़ा होगा कि अब यह कविता ऐसे लोगों को आकर्षित नहीं करेगी, तो कम से कम बदनाम तो नहीं होगी वरना पहले के समय में कविता के बारे में भी यही भावना थी कि इसमें जज़्बात होते हैं भावनाएं होती हैं। कम से कम लड़कियों के लिए तो जज़्बात उपयोगी नहीं माने जाते हैं। आज़ादी

हम लोगों की पीढ़ी में तो कहा ही जाता था कि सिनेमा देखोगे तो बरबाद हो जाओगे। सिनेमा भाग–भागकर देखना हमारी पीढ़ी के लिए एकमात्र विकल्प था। और उस पीढ़ी में भी किसी शिक्षाविद् ने इस पर विचार नहीं किया कि क्या कारण है कि मार–मारकर तो बच्चा स्कूल जाता है लेकिन भाग–भागकर सिनेमा जाता है? ऐसा क्या आकर्षण है सिनेमा में जो स्कूल में नहीं है? वह जीवन का कौन सा पक्ष है? जीवन के कौन से आयाम हैं जिनको स्कूल नहीं खोल पा रहा है?

के आन्दोलन में ही यह बात विकसित होने लगी थी जब लगता था कि एक देशप्रेमी बनने के लिए जिस तरह का पौरुष ज़रूरी है साहित्य उस तरह के पौरुष को हटाएगा।

इस पूरे माहौल का कुछ–कुछ एहसास मुझको पहली बार अपनी एक ऐसी यात्रा में हुआ जिसमें एक बहुत ही अनोखी बात देखी। कुछ वर्ष पहले जब बर्लिन विश्वविद्यालय में एक दिन रहकर एक बहुत बड़ा आंगन देखने का मौक़ा मिला। बहुत ही बड़ा आंगन! उस विशाल आंगन के बारे में हमें बताया गया था कि इस आंगन में 1930 के दशक के मध्य में बहुत बड़ी तादाद में विश्व साहित्य को जलाया गया था। इसको बुक बर्लिन ब्लास्ट के रूप में जाना जाता है। इसकी स्मृति में वहां बहुत ख़ूबसूरत स्मारक बर्लिन विश्वविद्यालय ने बनवाया। हर वर्ष जिस दिन यहां किताबें बड़ी मात्रा मे जलाई गयी थीं, उस दिन बर्लिन विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की ओर से एक बहुत बड़ा आयोजन होता है। उस मैदान को किताबों से भर दिया जाता है और उस मैदान पर उन हज़ारों लेखकों व कवियों के नाम भी लिखे जाते हैं जिनकी पुस्तकें वहां जलाई गई थीं। संयोग से मैं उस दिन वहां था जिस दिन यह आयोजन होना था। उन नामों से गुज़रते हुए निगाहें एक नाम पर पड़ी टैगोर की गीतांजलि पर। गीतांजलि को भी वहां जलाया गया था।

मेरे एक मित्र जो कि वहां प्रोफेसर हैं, मैंने उनसे पूछा कि ये किताबें किस आधार पर चुनी गई थीं? उनकी संख्या दसियों हज़ार की तादाद में थीं। तो उन्होंने बताया कि ये हिटलर के उत्कर्ष का युग था। नागसीवाद में मान्यता थी कि जो भी साहित्य मनुष्य की भावनाओं को जगाता है या भावनात्मक रूप से उसको गहराई देता है वो साहित्य जर्मनी को सबल नहीं बना सकता। अगर जर्मनी को एक मजबूत देश बनना है, एक पुरुषार्थी देश बनना है जो कि दुनियाभर पर हमला करके उसे जीत ले तो ऐसा देश बनने के लिए ऐसे कमज़ोर लोगों से काम नहीं चल सकता है जिनकी भावनाएं रह–रहकर उमड़ती हों, इसलिए ऐसे सभी लेखकों को चुना गया था। ऐसे सभी कवियों को चुना गया था जो मनुष्य की भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। भारत से यह गौरव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मशहूर कृति गीतांजलि को प्राप्त हुआ था जिसको नोबल पुरस्कार मिला है। आंगन में उस दिन विश्व साहित्य का शायद ही कोई नाम होगा जो ना लिखा हो। उस दिन की स्मृति में पूरे बर्लिन शहर में जगह–जगह किताबों को पढ़कर सुनाया जाता है। छोटे–छोटे बच्चों को लेकर दर्जनों की तादाद में मांएं, पिता, आम लोग आते हैं। छोटे–छोटे कमरों में बैठकर रेस्तराओं मे बैठकर, चौराहों पर बैठकर, पार्क में बैठकर पूरे दिन पूरे शहर में देख सकते हैं कि लोग कोई किताब पढ़कर सुना रहे हैं। ऐसा माना जाता है कि नागसीवाद की तरह यह दिन भी जर्मनी के इतिहास का काला दिन था। इसलिए ऐसा दिन फिर कभी ना आए, ऐसा करने के लिए इस दिन को एक महत्त्वपूर्ण तारीख़ मान लिया गया है।

बहुत सी ऐसी गुत्थियां हैं जो मेरे दिमाग़ में अपने देश को लेकर रही हैं और आज भी हैं। कुछ–कुछ उस दिन समझ में आईं कि हमलोग क्यों बच्चों के हाथ में किताब देने से संकोच करते हैं? क्यों सोचते हैं कि केवल मान्य पाठ्यपुस्तक जिसको सरकार ने लिखवाया हो वही बच्चों के हाथ में जानी चाहिए। कोई अनाप–शनाप किताब उनके हाथ में न चली जाए। कौन–कौन सी शंकाएं हमारे मन में हैं? कैसा संशय है किताब को लेकर? हमारे मन में इन संशयों ने आधुनिक समय में एक नया रूप भी हासिल किया है। आप देखते होंगे कि अक्सर शिक्षा व्यवस्था की आलोचना करते समय जिन जुमलों का, नारों का प्रयोग होता है उनमें से एक नारा यह भी होता है कि 'बुकिश लर्निंग क्या किताबी कीड़ा बन रहे हो, 'कुछ करके देखो।' मेरी प्रिय संस्था किशोर भारती और एकलव्य जिसके सहयोगी आज हमारे साथ मौजूद

बहुत सी ऐसी गुत्थियां हैं जो मेरे दिमाग़ में अपने देश को लेकर रही हैं और आज भी हैं। कुछ–कुछ उस दिन समझ मे आईं कि हमलोग क्यों बच्चों के हाथ में किताब देने से संकोच करते हैं? क्यों सोचते हैं कि केवल मान्य पाठ्यपुस्तक जिसको सरकार ने लिखवाया हो वही बच्चों के हाथ में जानी चाहिए।

हैं, उन्होंने भी एक नारा इसी तरह दिया था "लर्निंग बाइ डुईंग" जो कोई नया नारा नहीं है। उन्होंने हिन्दी में इसको प्रचारित किया और एक आन्दोलन खड़ा कर दिया, "खुद करके देखो"। हालांकि यह नारा विज्ञान के सन्दर्भ में था पर यह कहीं न कहीं एक गहरे स्तर पर लोगों को किताब में दिए गए ज्ञान से कुछ–कुछ विरक्त और अपने हाथ से किए गए अपने अनुभव से पैदा किए गए, ज्ञान के प्रति कुछ–कुछ अनुरक्त बनाने के लिए एक सूक्ष्म स्तर पर काम करता है। एक ऐसी संस्कृति में जहां किताब पहले ही दुर्लभ है। अगर प्रकट भी होती है तो प्रायः बदनाम हो जाती है। या बच्चों के हाथ तक नहीं पहुंचने दी जाती है, ऐसी संस्कृति में जो बुकिश लर्निंग या किताबी कीड़ा बनने से परहेज करनेवाली जो बातें हैं ये भी कहीं न कहीं उस संस्कृति को उत्साहित करती है जिसमें किताब को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है।

सौ डेढ़ सौ साल पहले से आधुनिक शिक्षा की जो संस्कृति जन्मी उसमें भी तरह–तरह से आंख का काम, ज़्यादा बारीक़ी से करनेवाले विद्वान का मज़ाक उड़ाया जाता था। पहले इसलिए भी क्योंकि वो अंग्रेज़ी पढ़ लेता था लेकिन कुछ–कुछ इसलिए भी क्योंकि उससे हाथ से काम करने की प्रवृति घट जाती थी। बहुत सा आधुनिक शिक्षा विज्ञान अगर आप इस दृष्टिकोण से देखें तो आपको लगेगा कि किताब को हटाकर हाथ के काम को प्रमुख बनाने का विज्ञान है। कोई आश्चर्य भी नहीं कि ऐसा गांधी को भी स्वयं यह काम करना पड़ा क्योंकि वास्तव में हमारे धर्म में यह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा था कि हम कैसे हाथ के अनुभव को महत्त्वपूर्ण बनाएं। इसीलिए किताब की, किताबी आदमी की जिसकी आंख कमज़ोर हो गई है, जिसको चश्मा लग गया है, ऐसी चीज़ों की आलोचना करते हुए कुल मिलाकर हम किताबी संस्कृति की आलोचना करना उचित मानते हैं। भारतेन्दु ने 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही लिख दिया था कि ''घड़ी, छड़ी, चश्मा भये, छत्रिन के हथियार।'' ऐसी संस्कृति आई है कि नई शिक्षा में क्षत्रियों ने तलवार की जगह अब चश्मा लगाना शुरू कर दिया है और कटार की जगह कलम इस्तेमाल करने लगे हैं। ये पूरा सन्दर्भ मैं इसलिए नहीं दे रहा हूं जिससे कि कोई अनोखी, नई बात कही जाए बल्कि इसलिए दे रहा हूं जिससे कि हम इस बात को समझें कि अगर पुस्तकालयों को, पुस्तक पढ़ने की संस्कृति को वास्तव में एक ज़रूरत बनाना है समाज की, शिक्षा की, स्कूली व्यवस्था की तो इसमें काम और सोच दोनों को ही काफ़ी गहराई से करना होगा।

हम इस बात को समझें कि अगर पुस्तकालयों को, पुस्तक पढ़ने की संस्कृति को वास्तव में एक ज़रूरत बनाना है समाज की, शिक्षा की, स्कूली व्यवस्था की तो इसमें काम और सोच दोनों को ही काफ़ी गहराई से करना होगा।

भारत लगातार एक बदलता हुआ देश है। इसमें बहुत कम समय में मुश्किल से 150–200 वर्ष में कई ऐसी यात्राएं की हैं जिनको यूरोप ने 400–500 वर्षों में किया और कई ऐसी यात्राएं अभी भी चालू हैं जो हमारे जीवन में पूरी नहीं होंगी बल्कि कई पीढ़ियां इन यात्राओं में निकल जाएंगी। इन्हीं में से एक यात्रा है पढ़ने–लिखने की। पढ़ने–लिखने की संस्कृति को सामान्य बनाने की, हर इन्सान को किताबों के प्रति आकर्षित करने की, और किताब को एक ऐसा माध्यम बनाने की जिससे समाज में एक दूसरे की बात सुनने की, एक दूसरे की बात सहने की, अपनी बात आत्मविश्वास के साथ कहने की, तहज़ीब पैदा हो, चिल्लाकर कहने की नौबत न आए। हथियार उठाने की नौबत न आए। शान्ति की संस्कृति जो कि अपनी बात कहती है लेकिन उससे जब कोई सहमत नहीं होता तो इतना ग़ुस्सा नहीं करती कि दूसरे को लगे कि उसकी बात बिल्कुल व्यर्थ है। ये एक राजनीतिक मसला भी है। इसमें एक सांस्कृतिक अनुगूंज है, एक ऐतिहासिक मसला भी है, और इसकी राजनीति आज के समय में आप देख ही रहे होंगे जहां किताबों का चयन अपने आप में अक्सर एक राजनीतिक प्रश्न बन जाता है। फिर पाठ्यपुस्तकों का निर्माण ही नहीं बल्कि सामान्य पुस्तकों का चयन भी एक राजनैतिक प्रश्न बन जाता है क्योंकि ये डर लगता है कि हमारी किताबें आएंगी या उनकी किताबें

आएंगी। अगर किताबें पहुंचनी हैं तो बच्चों के हाथ में किनकी किताबें पहुंचें? क्योंकि हमारे माहौल में बच्चों पर भरोसा नहीं है किसी का, हर आदमी सोचता है कि हम बच्चों को अपनी तरह का इन्सान बना दें। बच्चे खुद कैसे इन्सान बनेंगे, इस बात में हमारे यक़ीन नहीं हैं। इसलिए लगातार एक कशिश, एक तनाव समाज में उठनेवाली हिंसा मतों को लेकर, विचारों को लेकर, बातों को लेकर पैदा होती रहती है। उसकी बहुत सी बानगी आप पिछले दो तीन हफ़्तों से देख रहे हैं एक नई तरह से। उसका स्वरूप देख रहे हैं उड़ीसा में, दक्षिण के राज्यों में जहां हम सोचते थे कि एक अपेक्षाकृत विकसित वातावरण बना है। देश के सबसे विकसित माने जानेवाले गुजरात राज्य में ये जो पूरा सिलसिला है जो कहीं न कहीं हमको इन प्रश्नों पर दुबारा लौटने के लिए बाध्य करता है। जिनकी ओर मैंने इस पहले हिस्से में ध्यान दिलाया है।

दरअसल दूसरा हिस्सा जो मुझे अपनी बात को आज कहना था जो एक तरह से आज शुरू हो चुका है। अब वो हिस्सा है कि आप पुस्तकालय की संस्कृति बनाने निकले हैं। लाइब्रेरियों का निर्माण करने निकलते हैं, सोचते हैं कि हम हर स्कूल में लाइब्रेरी बनाएंगे। हर कक्षा में लाइब्रेरी बनाएंगे या कि नगर–नगर में, गावों में, लाइब्रेरी होगी तो किन समस्याओं से हम पेश आते हैं। उनमें से कुछ का नज़ारा, कुछ की बानगी आपको नज़र आ गई होगी। और शायद इनमें दो समस्याएं सबसे प्रमुख हैं जिनकी ओर मैं संक्षेप में इशारा करना चाहूंगा कि दोनों ही ऐसी समस्याएं हैं जिनसे उस हर शख़्स को पेश आना पड़ेगा। जो कि एक छोटी सी भी लाइब्रेरी बनाने के लिए निकला है। अब इसलिए पेश आना पड़ेगा क्योंकि लाइब्रेरी एक सार्वजनिक संस्था है।

किताबें मिठाइयां नहीं हैं जो पहले से पता हों कि फलाने की दुकान पर मिलती हैं। किताबों का मसला बहुत ही जटिल है। अव्वल तो इतनी किताबें हैं और उनमें से कुछ को ख़रीदने की हमारी कुव्वत है। दूसरे, किताबें जगह लेती है और जगह लेती हैं तो इस तरह से लेती हैं कि पसरकर बैठ जाती हैं।

अगर आप अपने घर में लाइब्रेरी बना रहे हैं तो एक अलग मसला है। अगर लाइब्रेरी का अर्थ ही है कि वह जगह जहां चार अपरिचित लोग आएंगे तो आपका वास्ता इन दो समस्याओं से ज़रूर पड़ेगा जिनकी ओर मैं संक्षेप में इशारा करने जा रहा हूं। इनमें से पहली समस्या है चयन की जिसकी ओर थोड़ा सा इशारा मैंने आपसे पहले किया कि कौन सी किताबें आएंगी यहां? कौन चुनेगा इन किताबों को? किस आधार पर चुनेगा इन किताबों को? कौन होता है वो चुननेवाला? ये चारों प्रश्न एक साथ प्रकट होंगे। जब ये प्रश्न सरकारी सन्दर्भों में प्रकट होते हैं तो प्रायः इतना प्रच्छन रूप से प्रकट होते हैं कि आम जन को दिखाई नहीं देते कि ये कितने गम्भीर प्रश्न हैं। क्योंकि किताबों का मसला ऐसा नहीं है कि आप जेब में पैसे लेकर निकले और बाज़ार से कुछ किताबें ख़रीदकर लाएं। किताबें मिठाइयां नहीं हैं जो पहले से पता हों कि फलाने की दुकान पर मिलती हैं। किताबों का मसला बहुत ही जटिल है। अव्वल तो इतनी किताबें हैं और उनमें से कुछ को ख़रीदने की हमारी कुव्वत है। दूसरे, किताबें जगह लेती हैं और जगह लेती हैं तो इस तरह से लेती हैं कि पसरकर बैठ जाती हैं। एक बार आपने कुछ किताबें ख़रीद लीं और जो जगह आपके स्कूल में या आपकी संस्था में थी वो आपने भर ली। अब अगर आपको कुछ वर्ष बाद ये दिव्य ज्ञान हो भी कि वो किताबें बहुत अच्छी नहीं थीं तो उन किताबों से मुक्ति पाना बड़ा मुश्किल काम है। क्योंकि अगर आप किताबों को हटाते हैं तो चार लोग आपकी आलोचना करना शुरू कर देंगे कि देखो किताबें हटा रहे हैं। आप उनको फाड़ंगे, जलाएंगे तो वही समस्या आएगी जो मैंने आपसे पहले बतायी। आपके मन में भी एक प्रश्न होगा कि मैं भी किताबों को नष्ट करनेवाला बन गया। कैसा आदमी हूं? आप सोचेंगे कि अच्छा होता किसी को दे देते। तो आपके मन में दो बार यह ख़्याल ज़रूर आएगा कि जिन किताबों को मैं नहीं रखना चाहता वो दूसरों को देना कोई अच्छी बात है क्या? अगर ये किताबें

अच्छी होतीं तो मैं ही इनको रखता और हम इन्हें दूसरों को दे रहे हैं जिसके पास मेरी तुलना में भी कम किताबें हैं। तो मैं उसको ऐसी किताब दूं जो कि कुछ बेहतर हो लेकिन मैं वो किताबें दे रहा हूं जो कि मैं हटाना चाहता हूं। ये सारे प्रश्न किताबों को लेकर आपके मन में आएंगे। किताबों का चयन एक बहुत ही मुश्किल काम है। जब सरकारें ऐसी समिति बनाती है जिसको ये ज़िम्मा दिया जाता है कि भई कुछ किताबों की सूची बनाओ तो वो समिति के सामने बड़े इस तरह के पेचीदा सवाल उभरते हैं कि हम कैसे ये सूची बनाएं? अव्वल तो कोई ऐसा इन्सान नहीं होता जिनको पता हो कि दुनिया में जितनी तमाम किताबें हैं उनमें से कौन सी लेने लायक है। अगर पता हो तो भी यह प्रश्न उठता है कि उस समिति में हर व्यक्ति की राय किस तरह शामिल हो पाएगी? सरकारी समितियों के साथ जो सबसे बड़ी सीमा होती है, समय की होती है। समिति आज बनी और उससे कहा जाता है कि 25 तारीख़ तक सूची जमा कर दो। उस बीच दस हज़ार किताबों में से उसको आठ सौ चुननी है। अगर वो व्यक्ति अरस्तु भी हो तो भी उसके लिए बड़ा मुश्किल है कि वो दस हज़ार किताबें 25 तारीख़ तक पढ़कर उसमें से आठ सौ चुन ले। अगर चार–छह आदमी उसमें हैं तो आप समझिए कि यह असम्भव है। तो प्रायः किताबों को यूं ही पलटकर देखकर कह देते हैं कि हां भाई ठीक है ले लो। यहां पर अनेक प्रकार की भावनाएं, अनेक प्रकार के पूर्वाग्रह काम आते हैं। बहुत से लोगों को वो किताबें ठीक लगती हैं जो उन्होंने ख़ुद पढ़ रखी हैं बचपन में। बहुत से लोगों को नागवार गुजरती हैं जो उनके शत्रुओं ने पढ़ी हों। बहुत से लोगों को किताबें देखकर एहसास हो जाता है कि ये लेने लायक है या नहीं। हमारी व्यवस्था में तो आप जानते हैं इम्तिहान की कॉपी देखकर ही बहुत से लोगों को पता चल जाता है कि इसको 'साठ' नम्बर मिलने चाहिए इसको 'चालीस'। हमारे यहां इस तरह की बुक रीडिंग बहुत होती है या नोट बुक रीडिंग ऐसी स्थिति में ये बड़ा मुश्किल काम होता है किताबों का चयन दिए गए समय में कैसे किया जाए? चयन के लिए प्रायः पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में एक जगह उपलब्ध भी नहीं होतीं। और यहां आता है दूसरा पहलू जो इसी संदर्भ में मुझे आपके सामने रखना है। वो पहलू है एक ऐसे बाज़ार का जिसके अपने कोई नियम नहीं हैं। किताबों का बाज़ार, किताबों के निर्माण का उद्योग।

अगर आप बहुत ज़्यादा बुरा ना मानें और इस सभा में बैठे हुए लोग किताबों की दुनिया से ही निकले हुए लोग हैं, इसलिए हो सकता है उनकी भावनाओं को मैं आहत करूं, इसलिए मैं पहले से ही भूमिका दे रहा हूं। बुरा ना मानें आप, किताबों का बाज़ार, किताबों का उद्योग, उद्योगों में अगर गिना जाए तो सबसे भ्रष्ट उद्योगों में से है। जिसमें आज एक प्रकार की ऐसी तलछट देखने को मिलती है जिसमें से कोई चीज़ कायदे से ढूंढ़कर के निकालना बड़ा मुश्किल है। कौन सी किताब छपेगी? कौन सी नहीं छपेगी? इसके आधार अधिकांश प्रकाशकों के पास नहीं हैं। अनाप–शनाप सब कुछ छपता है और क्यों छप रहा है इसके भी अनेक कारण होते हैं। बहुत सी पुस्तकें केवल इसलिए छपती हैं जिससे वो सरकारी बिक्री में आ सकें। बहुत से प्रकाशक अनेक नामों से पुस्तकें छापते हैं। बहुत से लेखक अनेक नामों से पुस्तकें लिखते हैं। इस पूरे जगत् में कोई सामान्य इन्सान पहुंच जाए तो उसको वास्तव में लगेगा कि मैं कहां आ गया। इससे अच्छा तो मैं उस दुनिया में था जहां कोई किताब नहीं थी, जहां पेड़ ही थे, जानवर थे। वरना इस जगह पर यह तय करना कि ये किताब मेरे तक कैसे पहुंची, बड़ा मुश्किल काम है। कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए हमको इस बात से कि अगर आप आज किसी डाइट के पुस्तकालय में जाएं, सर्व शिक्षा

बुरा ना मानें आप, किताबों का बाज़ार, किताबों का उद्योग, उद्योगों में अगर गिना जाए तो सबसे भ्रष्ट उद्योगों में से है। जिसमें आज एक प्रकार की ऐसी तलछट देखने को मिलती है जिसमें से कोई चीज़ क़ायदे से ढूंढ़कर के निकालना बड़ा मुश्किल है। कौन सी किताब छपेगी? कौन सी नहीं छपेगी? इसके आधार अधिकांश प्रकाशकों के पास नहीं है।

बहुत सी पुस्तकें केवल इसलिए छपती हैं जिससे वो सरकारी बिक्री में आ सकें। बहुत से प्रकाशक अनेक नामों से पुस्तकें छापते हैं। बहुत से लेखक अनेक नामों से पुस्तकें लिखते हैं। और इस पूरे जगत् में कोई सामान्य इन्सान पहुंच जाए तो उसको वास्तव में लगेगा कि मैं कहां आ गया। इससे अच्छा तो मैं उस दुनिया में था जहां कोई किताब नहीं थी, जहां पेड़ ही थे, जानवर थे।

अभियान के अन्तर्गत बहुत बड़ी मात्रा में किताबों की ख़रीद हुई है गांव–गांव में पुस्तकें पहुंची हैं। ज़्यादा नहीं तीस चालीस ही सही। पर आप वो स्कूल खुलवाकर उसकी लाइब्रेरी की अलमारी खुलवा कर ग़ौर करें तो आप कुछ विलाप की मुद्रा में तुरन्त आ जाएंगे कि ये किताबें ली गई हैं। इन किताबों को कौन पढ़ेगा? बहुत सी किताबें सिर्फ़ इसलिए ली गई हैं कि दिखने में कुछ शोख़ लग रही थी, कुछ–कुछ इस तरह के उनके कव्हर थे जिस तरह से एक शादी का कार्ड होता है, चमकदार तेज रंग वाले चित्र उसमें थे। थोड़ा बारीक़ी से आप देखेंगे तो बड़े क्रूर चेहरे, अटपटी भाषा मिलेगी। किसी चीज़ पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था फिर भी बिक गई क्योंकि मूल्य बहुत कम था। मूल्य इसलिए बहुत कम था क्योंकि असली मूल्य पहले ही दिया जा चुका था। तो जो छपा हुआ मूल्य है बहुत आकर्षक लगता है समिति को। नियम भी कुछ इस तरह के हैं कई बार कि कोई किताब 8 रुपए में मिल रही है और उसके बरख्त दूसरी किताब 48 रुपए में है तो 8 रुपएवाली को प्राथमिकता मिलेगी। भले ही सबको पता हो कि 8 रुपए में आज कोई किताब नहीं छप सकती। सरकार भी बहुत से संशय लेकर चलती है और कोशिश करती है कि भ्रष्टाचार कम से कम हो। पर किताबों का व्यवसाय ही ऐसा है कि जितने नियम भ्रष्टाचार को कम करने के लिए बनाए जाते हैं, ठीक उन्हीं नियमों की आड़ में भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। और इस तरह से एक ऐसी परिस्थिति पैदा होती है जिसमें रह–रहकर बार–बार पैसा दिए जाने के बावजूद हमारी शिक्षण संस्थाओं में ऐसी किताबें नहीं पहुंच पाती है जो बच्चों को आकर्षित कर सके, जो अध्यापकों को आकर्षित कर सके। अगर आप पिछले 60–62 साल की कई योजनाओं पर विचार करें तो पाएंगे कि पहली योजना से लेकर आज 11वीं योजना तक शायद ही कोई पंचवर्षीय योजना रही हो जिसमें किताबों की ख़रीद के लिए प्रावधान न किया गया हो। एक–दो योजनाएं तो बहुत बड़ी किताबों की ख़रीद लेकर आई जैसे कि ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड जो कि नई शिक्षा नीति के संदर्भ में चला और उसमें भी ऐसे कई कांड हुए जिनमें से अभी भी कई का समाधान हो रहा है। किताबों की ख़रीद को लेकर बहुत बड़ी समस्याएं उस पूरे ऑपरेशन में आईं। जब ये किताबें स्कूल पहुंचती हैं तो इनका चूंकि ऐसा कोई कारण स्कूल में इस्तेमाल का नहीं है, जैसा मैंने पहले भी कहा, तो ये किताबें पड़ी रहती हैं। इसलिए आनेवाले अधिकारियों को भी लगता है कि ये पैसा बरबाद हुआ। अब क्यों फिर से पैसा लगाया जाए।

तो इस सम्मेलन में मुझे आशा है कि आप में से बहुत से लोग इन प्रश्नों पर भी विचार करेंगे कि अगर हम अपनी स्कूली व्यवस्था में परीक्षा प्रणाली, अध्यापकों के प्रशिक्षण, इन तमाम चीज़ों पर अधिक ध्यान देकर और उन तमाम सांस्कृतिक, शैक्षणिक प्रश्नों से जूझ भी लें जिनकी ओर मैंने पहले इशारा किया और एक पढ़ने का माहौल और एक लाइब्रेरी की ज़रूरत पैदा कर भी दें, तो भी ये प्रश्न रहेगा कि इसमें किस प्रकार सामग्री पहुंचे। एक ऐसे बाज़ार से होकर इस सामग्री को पहुंचना है जो बाज़ार अपने आप में बहुत नैतिक बाज़ार नहीं है। और इस वजह से उस पर निर्भर होना बहुत मुश्किल काम है।

तो एक तरह से ज़रूरत और समस्याएं ये दो पूरी करने के बाद मैं अपने तीसरे और अंतिम हिस्से पर आता हूं जहां पर मुझे आपसे साधनों की बात करनी है। इस पूरे परिदृश्य में बदलाव लाने के क्या साधन हैं? ख़ासकर दो साधनों की मुझे आपसे बात करनी है। एक तो शैक्षणिक साधन और दूसरे तकनीकी साधन। शैक्षणिक साधनों में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन शायद वो साधन हैं जो कि पढ़ना सिखाने के शिक्षण को प्रभावित कर सकते हैं। ये एक ऐसा विषय है जिस पर मेरी संस्था इस समय काफ़ी गहराई से काम करने का

प्रयास कर रही है। एनसीईआरटी ने एक रीडिंग डिवेलपमेंट सेल सर्व शिक्षा अभियान के अनुदान से खोला है। इस सेल में हमारी कोशिश है कि हमलोग नई तरह के पढ़ना सिखाने के कौशलों का प्रशिक्षण देश में प्रचारित कर सकें। इस सिलसिले में बाल साहित्य का इस्तेमाल, क्रमिक पुस्तकमाला का इस्तेमाल नई तरह की सामग्री का इस्तेमाल हम देश के राज्यों में प्रसारित करने की कोशिश कर रहे हैं। इस पूरी परियोजना के पीछे पढ़ने को लेकर एक दृष्टि है। वो दृष्टि पढ़ने की स्थापित संस्कृति से विपरीत है या उसकी विपरीत दिशा में जाती है। पढ़ने की स्थापित संस्कृति आज पढ़ने को एक यांत्रिक कौशल के रूप में विकसित करती है। अगर आप कक्षा 1 में जाएं इस ज़िले के तमाम स्कूलों में अगर आप कक्षा एक जो इस समय चल रही है, जुलाई से शुरू हुई है जाएं, तो अधिकांश सरकारी स्कूलों में और बहुत से प्रायव्हेट स्कूलों में भी आपको यही दृश्य देखने को मिलेगा कि बच्चे अक्षरों की आकृति से परिचित हो रहे हैं। उनके नाम याद कर रहे हैं और कुछ इस तरह की आवाज़ें आपको स्कूल से गुजरते समय आएंगी "क का कि की कु कू" या कि "अ आ इ ई" या "क पे उ की मात्रा कू, ग, पे, उ की मात्रा गू"। इस तरह से बच्चे रटते हुए आपको मिलेंगे जो कि अक्षरों और ध्वनियों के बीच संबंध बना रहे हैं। और ये सिलसिला कई महीनों तक चलेगा।

शिक्षा विज्ञान की दृष्टि से देखें तो ये सिलसिला न केवल पूर्णतः अवैज्ञानिक है इसलिए अमान्य है बल्कि साथ में ये एक बहुत दुःख भरा सिलसिला भी है क्योंकि बच्चों के बारे में हम जानते हैं कि अगर बच्चों में सबसे तीव्र किसी बात की इच्छा होती है तो वो यही होती है कि वो संसार को समझें। ऐसा कोई भी अनुभव जो उनकी समझने की इच्छा को, उनकी समझने की इच्छा को प्रोत्साहित नहीं करता, उद्दीप्त नहीं करता। ऐसा अनुभव उनको नागवार गुज़रता है। ऐसे अनुभव से पेश आते समय उनको बड़ा कष्ट होता है। ये जो अनुभव है अक्षरों की आकृतियां पहचानना, वर्णमाला याद करना, उसके क्रम को समझना और उसके बाद ध्वनियों को याद करना और फिर अक्षरों और ध्वनियों में संबंध बिठाना फिर मात्राओं को याद करना और इसके बाद कहीं जाकर पहला शब्द पढ़ने का मौक़ा मिलना जैसे कि "क म ल" "कमल"। कक्षा 1 के बच्चे के लिए बहुत ही बड़ी त्रासदी है।

यह कोई आश्चर्य नहीं है कि हमारे अनेक अध्ययन यह सिद्ध करते हैं कि पढ़ना सिखाने की यह पारंपरिक विधियां बहुत बड़े पैमाने पर बच्चों को स्कूल में आते रहने को निरुत्साहित करती हैं। क्योंकि पढ़ना सिखाने की ऐसी पद्धति जो कि उबाऊ हो और जिसमें बार–बार प्रयास करने पर भी बच्चा पढ़ना ना सीख पाए, अंततः बच्चे को न केवल निराश करती है बल्कि दूसरों की निगाह में बदनाम भी करती है। दो–तीन महीने, चार महीने बाद भी अगर बच्चा कुछ नहीं पढ़ पाता तो जो ऐसे माता–पिता हैं जिन्होंने स्वयं पढ़ना नहीं सीखा था वो बच्चे से पूछते हैं कि तुम चार महीनों से जा रहे हो पढ़ना नहीं सीख पाए। इसका मतलब? इसका मतलब वो यह नहीं समझते हैं कि स्कूल में कोई कमी है। इसका मतलब वो समझते हैं कि बच्चे में कोई कमी है। वो कहते हैं इसका मतलब तुम बुद्धू हो। और अगर वो बच्चा लड़की हुआ तो आप मानकर चलिए कि उसको इससे ज़्यादा समय नहीं दिया जाएगा। ठीक है तुम बकरी चराओ, छोटे बच्चों को देखो, पढ़ने से तुम्हारा कोई वास्ता नहीं है। तुम्हारा इतना दिमाग़ नहीं है। कक्षा 1 से 5 के बीच में ये दुर्घटनाएं लगातार होती है। बहुत से संदर्भों में आप कई जगह, कई इलाकों में देखेंगे कक्षा 5 का बच्चा भी स्वतंत्र रूप से पढ़ नहीं सकता है। बहुत से लोग इसी को लेकर व्यवस्था पर पिल पड़ते हैं कि ''फिर आपने पांचवीं में पहुंचाया ही क्यों?''

इस तरह के प्रश्न तमाम उठते हैं और मुझे आशा है कि आप भी छोटे समूह में इस पर विचार करेंगे। लेकिन इस पूरी चर्चा को यहां लाने का मैंने

एनसीईआरटी ने एक रिडिंग डिवेलपमेंट सेल सर्व शिक्षा अभियान के अनुदान से खोला है। इस सेल में हमारी कोशिश है कि हमलोग नई तरह के पढ़ना सिखाने के कौशलों का प्रशिक्षण देश में प्रचारित कर सकें।

इसलिए सोचा कि जब तक पढ़ना सिखाने की विधियों में और वो भी एकदम शैशव काल में, बचपन में विकास नहीं होगा, बदलाव नहीं होगा तब तक हमारा ये जो अरमान है कि लाइब्रेरी स्कूल का अंग बने, उसकी ज़रूरत बने और बच्चों में पढ़ने की इच्छा हो ये अरमान भी हमारा पूरा नहीं होगा। हमारी आज की स्कूली शिक्षा व्यवस्था या तो परीक्षार्थी बनाती है या बहुत साक्षर बनाती है। वो पाठक नहीं बनाती किसी को। इसी कारण से हम अपनी भाषाओं में देखते हैं कि बहुत अच्छे–अच्छे लेखक की हज़ार दो हज़ार प्रतियां बिक पाती हैं। बल्कि दो हज़ार प्रतियां अगर हिन्दी में किसी उपन्यास की बिक जाएं तो बहुत माना जाता है। भले ही 47 करोड़ लोगों की भाषावाला देश है ये। बड़ा भारी प्रश्न है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था इतना समय लगाती है फिर भी पाठक क्यों नहीं बना पाती। मांग–मांगकर पढ़नेवाले बच्चे क्यों नहीं आ पाते?

कुछेक प्रदेश हैं जैसे केरल, बंगाल जिनमें पाठक बनते हैं। शिक्षा व्यवस्था की वजह से बनते हैं या कोई और सांस्कृतिक कारण है क्योंकि इन प्रदेशों में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में किताबें बिकती हैं। यहां सार्वजनिक प्रयास हुए हैं। जैसे कि केरल शास्त्र साहित्य परिषद् ने बहुत बड़े पैमाने पर पुस्तकों की संस्कृति को केरल में विकसित किया। सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए 1930 के दशक से ही केरल में एक आंदोलन जैसा चला जिसकी वजह से आज वहां के गांव–गांव में पुस्तकालय मिलते हैं। कई समस्याओं को जिनको हम हिन्दी प्रदेश में आज भी झेल रहे हैं उन समस्याओं को केरल जीत चुका है। ऐसा नहीं है कि वो चयन के प्रश्न को जीत चुका है। नहीं जीता, बल्कि अभी आपने देखा कि हाल ही में केरल में एक पुस्तक को लेकर इतना झगड़ा हुआ कि एक हेडमास्टर की हत्या कर दी गई जबकि उस पाठ्यपुस्तक से उसका कोई लेना देना नहीं था। उस पुस्तक की प्रतियां जलाई गईं उस प्रदेश में जिसको देश का सबसे साक्षर प्रदेश कहते हैं। ज़ाहिर है वो साक्षर तो हो गया लेकिन किताबों की संस्कृति के मामले में अभी बहुत निरक्षर है या कि असहनशील है। वरना एक किताब को जलाने की नौबत नहीं आती। उस किताब में कुछ ऐसा लिखा जिससे लोग सहमत नहीं थे, तो वो दूसरी किताब लिखते क्योंकि अंततः किताब का जवाब तो किताब ही है। किताबों का जवाब तो हर बच्चे के पास है, हर नागरिक के पास है। क्योंकि वो अगर सचमुच एक जीवित लोकतंत्र का नागरिक है तो उसमें इतनी कुव्वत होगी कि कौन सी किताब में बकवास लिखी है और कौन सी किताब में कोई ढंग की बात लिखी है। ये निर्णय अंततः नागरिक का है, बच्चे का है। उसके हाथ से किताब छीनकर पहले ही जला देना या छिपा देना जिससे वो न पढ़ने पाए, या दृष्टिकोण कुछ–कुछ वैसा ही जैसा कि हमने कुछ समय पहले जर्मनी का दृष्टांत देते हुए आपके सामने रखने की कोशिश की थी।

अंत में वो दूसरा साधन जिसकी ओर आजकल बहुत लोग आशा के दृष्टिकोण से देखते हैं और इस सम्मेलन के इन्ट्रोडक्ट्री नोट में उसका भी ज़िक्र है कि क्या ये जो नई सूचना प्रोद्यौगिकी है जिसको आई.सी.टी. के नाम से जाना जाता है। क्या ये नई संस्कृति किताबों की संस्कृति को प्रोत्साहित कर सकती है। अगर किताबों को छोड़ भी दें, तो क्या यह पढ़ने की संस्कृति को प्रोत्साहित कर सकती है। बहुत पेचीदा प्रश्न है क्योंकि इसमें संदेह नहीं कि इस टेक्नॉलॉजी की मदद से आज ये संभव हुआ है कि बहुत से लोग जो कि किताबों से वंचित रखे गए हैं, जिनके गांव शहर तक किताबें नहीं पहुंचती, वो भी किसी प्रकार उन विचारों को ख़ुद पढ़ सके जिन विचारों को वो किताबों में नहीं पढ़ सकें। आज यह संभव हुआ है और इस दृष्टिकोण से देखें तो ये टेक्नॉलॉजी हमारे सामने एक ऐसा बिहान जगाती है, ऐसा लगता है कि एक ऐसी सुबह होने जा रही है जैसी सुबह कभी किसी ने देखी नहीं है। लेकिन परेशानियां भी हैं।

हमारी आज की स्कूली शिक्षा व्यवस्था या तो परीक्षार्थी बनाती है या बहुत से बहुत साक्षर बनाती है। वो पाठक नहीं बनाती किसी को। और इसी कारण से हम अपनी भाषाओं में देखते हैं कि बहुत अच्छे–अच्छे लेखक की हज़ार दो हज़ार प्रतियां बिक पाती हैं।

परेशानियां इस कारण हैं कि जो

समस्याएं किताबों के जंगल से किताबें बीनकर ख़रीदने में होती थी वो किताबें इंटरनेट के जंगल में भी वैसी ही है। क्योंकि इंटरनेट का जंगल भी कोई बहुत नैतिक जंगल नहीं है। डार्विन ने कहा था कि जंगल का मतलब ही यह है कि जहां शक्ति का बोलबाला हो, नीति का स्थान ना हो। वो बात तो वहां भी लागू होती है और हर तरह की सूचना वहां उपलब्ध है। दुनिया में हज़ारों की मात्रा में गुमराह किए जाते हुए युवक भी इंटरनेट के विश्वविद्यालय से ही पढ़ रहे हैं। लाखों की मात्रा में निराश होते हुए विकृत मानसिकता की ओर बढ़ते हुए बच्चों के लिए भी इंटरनेट का रास्ता खुला हुआ है। इंटरनेट पर किसी का ज़ोर नहीं है। अगर इंटरनेट को इस्तेमाल करना है, स्कूल की संस्कृति में पढ़ने–लिखने की जगह बनाने के लिए, सुनने–सुनाने की जगह बनाने के लिए, एक अहिंसक शांतिपूर्ण जगह बनाने के लिए, तो भी अंत में हमारे पास इसका कोई विकल्प नहीं होगा कि हम एक ऐसे जगत की कल्पना करें जिसमें क्या बकवास है और क्या नहीं हैं यह निर्णय करने का अधिकार भी विद्यार्थी के पास हो और इस निर्णय को करने की क्षमता भी उसमें विकसित की जा चुकी हो।

दूसरा मसला है आई.सी.टी. के विद्वान भी बहुत स्पष्ट नहीं बता पा रहे हैं कि क्या आई.सी.टी. में वो क्षमता है या वो क्षमता उस पीढ़ी को दिखलाई दे रही है जो किताबों की मदद से जिज्ञासा पैदा कर सकी, बनाए रख सकी। आज आई.सी.टी. की मदद से उसको पूरा किए ले रही है। लेकिन कल के दिन अगर सिर्फ़ आई.सी.टी. ही होगी और किताबें नहीं होंगी तो क्या वैसा माहौल पैदा हो पाएगा कि हम बच्चे से उम्मीद करें कि वो कोई प्रश्न लेकर मन में चले और उसका तुरन्त उत्तर ना मिलने पर निराश ना हों, महीनों तक उसकी खोज करता रहे अनेक तरह की चीज़ें पढ़ता रहे, देखता रहे तब जाकर उसके मन में कोई विचार बने।

दुनिया में हज़ारों की मात्रा में गुमराह किए जाते हुए युवक भी इंटरनेट के विश्वविद्यालय से ही पढ़ रहे है। लाखों की मात्रा में निराश होते हुए विकृत मानसिकता की ओर बढ़ते हुए बच्चों के लिए भी इंटरनेट का रास्ता खुला हुआ है। इंटरनेट पर किसी का ज़ोर नहीं है।

शिक्षा के बहुत महत्त्वपूर्ण मूल्यों में से एक है अनिश्चय में रहना फिर भी सुखी रहना। आई.सी.टी. की संस्कृति में कहीं न कहीं समय का प्रबन्धन एक बहुत बड़ा प्रश्न है। जैसे कि पारंपरिक लाइब्रेरी के निर्माण में जगह का प्रबन्धन एक बहुत बड़ी समस्या थी वैसे ही आई.सी.टी. के संदर्भ में समय का प्रबन्धन बहुत मुश्किल है क्योंकि ये जो नई टेक्नॉलॉजी है ये जगह तो नहीं मांगती लेकिन समय को लेकर एक नई समस्या पैदा करती है कि इनके आने के बाद किसी में धैर्य नहीं रहता। लोग तुरन्त अपने प्रश्न का उत्तर चाहते हैं और तुरन्त अगर कोई जवाब नहीं मिलता तो निराश हो जाते हैं। मैं देखता हूं कि अगर आप किसी के ई–मेल का जवाब हफ्ता दो हफ़्ता ना दें तो वो सोचता है कि अब आप सचमुच सरकारी अधिकारी बन गए। यानीकि अब आप कुन्द हो गए। ई–मेल लिखनेवाले को लगता है कि जितना समय मुझे इसको भेजने में लगा उतना ही समय आपको इसको समझने में लगना चाहिए। इतने ही समय में आपको इसका जवाब दे देना चाहिए। ई–मेल, इंटरनेट का एक पहलू भर है लेकिन वो इसकी सांस्कृतिक संरचना भी है। वो एक मानसिक संरचना भी है। किताबों की संस्कृति और आई.सी.टी. की संस्कृति में समय के प्रबन्धन को लेकर एक गहरी बहस छिपी हुई है, फंसी हुई है। मुझे आशा है आप इस बहस को आज शुरू करेंगे छोटे समूहों में। इससे जुड़े हुए प्रश्न उभारेंगे।

मैं बहुत आभारी हूं कि आपने इतना लम्बा समय मुझे इन बातों को रखने के लिए दिया। मुझे आशा है कि यह संगोष्ठी जिस उद्देश्य के लिए आयोजित की गई, उस उद्देश्य को लेकर बहुत से लोगों और ख़ासकर विद्या भवन सोसायटी को बहुत लम्बे समय के लिए कुछ योजनाएं बनाने के लिए प्रोत्साहित करेंगी। इस काम में हम सभी लोग साथ में हैं इसलिए एक दूसरे को बधाई या शुभ कामनाएं देने का कोई कारण नहीं है। पर इस सम्मेलन के सफल आयोजन के लिए मैं फिर भी विद्या भवन को बधाई देता हूं। धन्यवाद।

कृष्ण कुमार – एनसीईआरटी के निदेशक हैं।

सेमीनार–2

हाशियाकृत समाज के बच्चों की शिक्षा में पुस्तकालय की भूमिका

साधना सक्सेना

असल में जब बात होती है पढ़ने की तो ये तो लगभग सब लोग कहते हैं कि स्कूल जानेवाले कई बच्चे पांचवीं, आठवीं तक पढ़ना नहीं जानते हैं। पढ़ने से मतलब समझना होता भी है नहीं भी होता है। पढ़कर सोचना या प्रतिक्रिया करना ये तो और भी थोड़ी दूर की बात हो जाती है। मुश्किल यह है कि हम स्कूल के छात्रों के बारे में तो ये बात करते हैं पर कॉलेज में आजकल जिन लोगों के साथ मैं काम करती हूं उसमें भी जो समस्या है वो बहुत गम्भीर है। वहां पढ़ना आता है। सब लोग मानते है कि पढ़ना आता है। पर सचमुच पढ़कर समझना नहीं आता है। और इसलिए ख़ासकर बी.एड. के छात्रों को जो स्नातक या स्नातकोत्तर के बाद यहां आते हैं, जब कुछ पढ़ने के लिए पाठ्यसामग्री दी जाती हैं तो वे धारा प्रवाह अंग्रेजी या हिंदी में पढ़ सकते हैं। पर जैसे ही वे स्कूल में साहित्य पढ़ाते हैं तो कई बार अवधारणात्मक तो दूर मैंने तो यह भी देखा है कि काफ़ी सरल चीज़ें भी पढ़ने के लिए दी जाएं तो नहीं पढ़ पाते हैं। मतलब पढ़ लेते हैं पर उसके बाद उस पर कोई चर्चा नहीं कर पाते हैं। मतलब पढ़ने का जो मामला है वह इतना सरल नहीं है। पढ़ने के साथ हम जिस पर बात नहीं करते हैं, जिस पर प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते हैं वह काफ़ी गम्भीर है। असल में इसकी शुरूआत स्कूल से ही होनी चाहिए।

मैं इस सन्दर्भ में कुछ अनुभव जो असल में किशोर भारती के बाद के हैं, उनको आपके साथ बांटना चाहूंगी। उस समय हमलोगों के एक समूह ने जो काम किया था उसके बारे में बात करूंगी। यहां जो दो प्रस्तुतियां हुईं और बाद में जब हमारी छोटे समूह में चर्चाएं हो रही थीं वह भी काफ़ी दिलचस्प थी। असल में वहां कुछ ऐसी बातें भी हो रही थीं कि शिक्षक को स्वायत्तता नहीं है। स्कूल में बड़ी–बड़ी क्लासेस होती हैं बहुत सारे बच्चे होते हैं। ऐसा लगा जैसे सबको समझ में आ गया है या सब सहमत है कि पढ़ने का मतलब क्या है। ऐसा लग रहा था कि वो सब स्वाभाविक है। हमको पता है जो समस्याएं हैं। वो समस्याएं ज़्यादा प्रशासनिक हैं। इसलिए हमको और प्रशासन में बहुत बड़ी समस्या परीक्षा लगती है जो क्लास रूम टीचिंग को तय करती है। परीक्षा जब तक नहीं बदलेगी तब तक और कुछ बात करने का मतलब नहीं रह जाता। ये बात बिल्कुल सही है कि परीक्षा आधारित कक्षा शिक्षण प्रक्रियाएं होती हैं और शिक्षक की स्वायत्तता आमतौर पर सरकारी स्कूलों में और शायद प्राइवेट स्कूलों में भी नहीं होती है। आज से 30 साल पहले हमलोगों ने स्कूली तंत्र में काम करना शुरू किया था उसको मैं पूरे राज्य के लिए कहूं या नहीं मुझे नहीं मालूम पर कम से कम मध्यप्रदेश में हाल ही में 14 ज़िलों में जो स्थिति देखी है उससे यही समझ में आता है कि आज से 30 साल पहले बदतर स्थिति थी। ये सब समस्याएं अब ज़्यादा बढ़ चुकी हैं। स्कूल तंत्र में ऐसी नीतियां हैं कि शिक्षक के पास शैक्षिक कार्य करने के लिए समय बहुत कम है।

पढ़ने को लेकर जो कुछ भी कहा गया उसमें समस्या जो पढ़ने को लेकर है, ख़ासकर साक्षरता को लेकर है, स्कूल के स्तर पर प्रशासन से संबंधित है और एक बार वो समस्याएं हल हो जाएंगी तो हालत ठीक हो जाएगी। मेरे ख़्याल में ये बातें सही नहीं हैं।

दरअसल पढ़ने की प्रक्रियाओं को लेकर सैद्धांतिक समझ पर कोई शोध हिंदुस्तान में हुआ हो यह मैं नहीं जानती मगर हमलोगों को आज से करीब 15–20 साल पहले पता चला था उसका स्रोत यही 2–3 लोग थे जिन्होंने सबसे पहले हमलोगों को फ्रैंक स्मिथ की किताब पढ़ने के लिए किशोर भारती में भेजी थी। एक तो फ्रैंक स्मिथ की किताब थी

और सन् 1972 में साइंटिफिक अमेरिकन का एक लेख था जो पढ़कर कुछ विचार आया क्योंकि हमें अंदर से कुछ समझ में आता था कि स्कूलों में पढ़ाने में कुछ गड़बड़ है। पर उस गड़बड़ को कैसे समझा जाए और उस पर कैसे काम किया जाए उसको लेकर बहुत स्पष्टता नहीं थी। अब मैं ऐसा दावा नहीं कर रही हूं कि अभी जैसे बहुत स्पष्टता है। पर कम से कम ऐसा लगता है कि सृजनात्मकता और समझ के साथ कुछ करने का प्रयास उसके बाद हमलोगों ने किया। दरअसल हमलोग यह भूल जाते हैं कि हमारे स्कूलों में, कमोबेश जो पढ़ाई है छोटी कक्षाओं में वो अभी भी ध्वनि पर आधारित है।

अर्थ पकड़ना या अर्थ समझना एक प्राथमिकता होनी चाहिए। अर्थ आधारित और ध्वनि आधारित पढ़ाई के रास्ते फ़र्क़–फ़र्क़ हो जाते हैं। दूसरी बात ये भी है कि यह इतना गहराई से एक तरह का समजीकरण है कि इस व्यवस्था को तोड़ने या बदलने को लेकर जब भी कोई काम होता है तो उसमें अड़चनें होती हैं। मतलब और कुछ नहीं तो शिक्षकों की तरफ़ से रुकावटें होती हैं। ऐसे कैसे हो सकता है अक्षर ना पढ़ाए जाएं पहले! इसके अलावा अभिभावकों की तरफ़ से भी विरोध होता है। पढ़ने और पढ़ना सीखने के जो चरण हैं उससे कुछ फ़र्क़ करना वो अपने आपमें एक तरह से ग़लत या एक तरह से अस्वीकार्य है क्योंकि बहुत गहराई से माना जाता है कि तरीक़ा यही है इसके अलावा कोई तरीक़ा हो ही नहीं सकता।

आगे कुछ बात करूं इससे पहले मैं एक बात और जोड़ना चाहती हूं। वो इसलिए क्योंकि हमलोगों ने जहां काम किया वहां पर इन बातों का महत्त्व ज़्यादा बढ़ जाता है। स्कीमा की जो बात हुई जिसे पूर्वज्ञान कहें यह एक बहुत ही नजदीकी अनुवाद है इसका। मैं नहीं मानती कि वह बहुत सही अनुवाद है। शोभा सिन्हा ने कहा कि बच्चे अपने साथ सांस्कृतिक मान्यताएं और ज्ञान लेकर आते हैं वो पूर्वज्ञान है और वो स्कीमा किस तरह से मदद करता है। पढ़ने में और पढ़कर समझने में जो पाठ्य है उस पर थोड़ी सी चर्चा करूंगी।

जब हम स्कीमा की बात करते हैं तो इसका जवाब किस तरह से ढूंढ़ा जाए? मैं ये कहना चाहती हूं कि सांस्कृतिक अनुभवों और मान्यताओं के साथ ही बहुत कुछ और है जिसके साथ बच्चे आते हैं क्लास में। उनकी भाषा है जो शायद संस्कृति का हिस्सा हो जाता है। इसमें ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है अनुभवों को उजागर करना। मतलब जो बच्चे क्लास में पढ़ रहे होते हैं उनमें कई स्तरों पर भेदभाव हैं। ये भेदभाव जाति आधारित हैं, लिंग आधारित हैं। ये भेदभाव अल्पसंख्यक समुदाय के आधार पर हो सकता है। और भी बच्चा अपने साथ अनुभव लेकर आता है उसमें हिंसा और अन्याय भी है। यह समझना इसलिए ज़रूरी है कि बहुत बार पढ़ने में और जिस तरीके के पढ़ने और पढ़ाने की प्रक्रियाओं में जो अभाव है जो सबसे ज़्यादा मुश्किल है वो ऐसे ही समुदायों के बीच में है जिनके बच्चे पहली पीढ़ी के पढ़नेवाले हैं, जिनके पास और साधन नहीं हैं, जो पढ़ने में मददगार हो। किसी भी तरह के और साधन ही नहीं हैं।

अर्थ पकड़ना या अर्थ समझना एक प्राथमिकता होनी चाहिए। अर्थ आधारित और ध्वनि आधारित पढ़ाई के रास्ते फ़र्क़–फ़र्क़ हो जाते हैं। दूसरी बात ये भी है कि यह इतना गहराई से एक तरह का समाजीकरण है कि इस व्यवस्था को तोड़ने या बदलने को लेकर जब भी कोई काम होता है तो उसमें अड़चनें होती हैं।

तो ऐसे बच्चे जब स्कूल में आते हैं तो बहुत समृद्ध मौखिक परंपराओं के हिस्सा होते हैं। पर साथ–साथ बहुत सारी ऐसी चीज़ें हैं जो उनके साथ आती हैं जो वास्तव में स्कूल के पाठ्यक्रम का, स्कूल की औपचारिक प्रक्रियाओं का हिस्सा नहीं बनता है। हम कितना ही स्कीमा की बात करें, हमारी जो सामग्री है वह बहुत इस प्रकार के बच्चों के लिए नहीं है या या स्वीकार्यता भी नहीं है। ये सब मैं इसलिए कह रही हूं क्योंकि हमलोगों ने जिन बच्चों के साथ काम किया ये अनुभव होशगांबाद ज़िले में पिपरिया शहर और इसके आसपास और बनखेड़ी के दो विकास खंडों के हैं।

दरअसल किशोर भारती सन 1989 में बन्द हो गया था, उसके बाद उस इलाके में कुछ काम जारी रखने की कोशिश की कुछ लोगों ने। उस समय ये लगा कि बहुत अजीब सा खालीपन हो गया है। एक संस्था जिसने बहुत सघन रूप से काम किया स्कूलों में विज्ञान शिक्षण का और अचानक उसका बंद हो जाना ठीक नहीं था।

जो प्रशिक्षित लोग थे मगर वे औपचारिक स्कूलों में शिक्षक नहीं थे और गांव के पढ़े हुए लोग थे वो इस पूरे प्रक्रिया का हिस्सा रहे थे। उनका ये कहना था कि हम किसी तरह से इस प्रक्रिया को अगर जारी रख सकते हैं तो अच्छा होगा। क्योंकि हमारी जो समझ है वो भी अब बीच में लटक गई है। धीरे–धीरे ऐसा समूह बढ़कर 25–30 लोगों का हुआ और ये काम करने की कोशिश हुई आसपास के लगभग 25 गांवों में। इनमें से ज़्यादातर गांव सड़क से काफ़ी अंदर के थे जिनमें प्राथमिक स्कूल भी नहीं था। उस समय लर्निंग गारंटी स्कूल जैसी कोई व्यवस्था भी नहीं थी। हमने पढ़ना सीखने के लिए जिन गांव में जो जगह बनाई उनको केंद्र कहा। इन केंद्रों में हर तरह के बच्चे थे। असल में बाद में तो ये हुआ कि स्कूल के बच्चे भी वहां आने लगे क्योंकि ये केंद्र रात में भी खुलते थे। दिन में जो बच्चे स्कूल जाते थे वो रात को वहां आते थे। हालांकि कोशिश ये होती थी कि ज़्यादा मौक़ा उन बच्चों को मिले जो स्कूल पहुंच ही नहीं पाते हैं। तो स्कूल ना पहुंचने के कारण कोई नए नहीं हैं। स्कूल ना जानेवाले बच्चे, स्कूल जानेवाले बच्चे और स्कूल छोड़ देनेवाले बच्चे ये ऐसे मिले–जुले ग्रुप थे जिनके साथ समूह में कार्य हुआ।

दिलचस्प बात ये है कि बहुत फ़र्क़ नहीं था स्कूल जानेवाले और स्कूल ना जानेवाले बच्चों के बीच में। जहां तक की पढ़ने का सवाल है पढ़ने की क्षमता की अगर बात करें तो उसमें कोई बहुत ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था।

दिलचस्प बात ये है कि बहुत फ़र्क़ नहीं था स्कूल जानेवाले और स्कूल नहीं जानेवाले बच्चों के बीच में। जहां तक की पढ़ने का सवाल है पढ़ने की क्षमता की अगर बात करें तो उसमें कोई बहुत ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था। ऐसा ज़रूर होता है कि इक्के–दुक्के बच्चे जो होते हैं वे थोड़ा सा पढ़ना जो सीख जाते हैं वो थोड़ा दादागिरी करने की कोशिश करते हैं। पर ये था कि बहुत सारे जो टीचर्स हैं जिन्होंने इसमें काम किया उन्होंने इसको काफ़ी बढ़िया ढंग से किया कि स्कूलों में जो होता है उसके चलते वे पढ़ना नहीं सीख पाए तो ये यहां आकर किसी तरह से दादागिरी नहीं करें बल्कि सहयोग का माहौल बने। अधिकतर बच्चे ऐसी परिस्थिति से थे जहां पर उस इलाके का मजदूर संगठन बहुत सक्रिय था। तो इन लोगों को उस अनुभव से गुज़रने का मौक़ा भी मिला था जिसमें इनके अभिभावक संगठन का हिस्सा थे। लगातार ख़ास तौर से ज़मीन, जंगल के मसलों को लेकर संघर्ष में रहे। एक–दो बार वन विभाग और पुलिस के साथ मुठभेड़ भी हुई। तो इन केंद्रों की कक्षाओं में वह पूरा अनुभव भी बच्चों के साथ आता है और कक्षा में पाठ्य का हिस्सा बना। जब फ्रैंक स्मिथ और गुडमैन को पढ़ें तो उसमें ये बात बहुत महत्त्व के साथ सामने आती हैं कि जो पढ़ने की सामग्री है वो कितनी अलगाव पैदा करनेवाली है, कितनी जोड़नेवाली है, कितनी दिलचस्पी पैदा करनेवाली है, कितनी चुनौतीपूर्ण है, ये सब भी बहुत महत्त्व रखता है।

इसलिए समूह पूरा काम कर रहा था वे ये समझते थे कि इन प्रक्रियाओं से निकली हुई जो चीज़ें हैं वो कक्षा के पाठ्य का हिस्सा बने यह अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। सवाल ये है कि पढ़ना किसको कहें? आम तौर पर पढ़ने के बारे में यही माना जाता है कि हम फटाफट पढ़ पाते हैं या थोड़ा धीरे–धीरे पढ़ पाते हैं, उसको पढ़ना माना जाता है। पढ़ने का मतलब कि जो लिखा हुआ है उसको सर्राटे से पढ़ना, क्या यही पढ़ना है? इसके पहले की भी कई अवस्थाएं हैं जिनको पढ़ने का हिस्सा माना जाना चाहिए। जिसको हम आम तौर पर पढ़ने का हिस्सा नहीं मानते यही महत्त्वपूर्ण है और उसको नज़रअंदाज़ करते हैं। इस पर ध्यान भी नहीं देते हैं जैसे कि बच्चों का या बड़ों का कि प्रिंटेड सामग्री से सम्पर्क और उस सम्पर्क में आने के

बाद उसमें शामिल करना। बच्चों का किताबों को उलट–पुलट कर देखना, पन्ने पलटना उसको वास्तव में पढ़ने की कोशिश करना। मतलब ये कि ख़ास तौर से ऐसा कुछ जो उसी किताब में से पढ़कर सुना रहा है। तो ये बात कि उसमें कुछ है जिसको ये पढ़कर सुना रहे हैं और वो जिज्ञासा आगे जारी रखना जिसमें खुद पढ़ने का प्रयास करना। हम कहते हैं कि पढ़ने का स्वांग करना या यह मानना कि हमको पढ़ना आ गया। या फिर यही जो स्वांग अपने साथियों के साथ करना, ये क्या पढ़ने का हिस्सा नहीं है?

हमारा अनुभव है कि जिन 25 गांवों में काम किया उसमें क्लास लगाकर पढ़ाने के अलावा एक और गतिविधि बहुत गम्भीरतापूर्वक की गई वो थी एक छोटा सा पुस्तकालय ज़रूर हो। क्योंकि` मैंने पहले कहा कि ये सब वो बच्चे थे जिनके घर में लगभग नहीं के बराबर कोई अख़बार या कोई किताब होती थी। ये बच्चे स्कूल भी नहीं जाते। इस कारण से छपी हुई चीज़ों से कोई सामना नहीं होता था। तो एक ऐसी दुनिया से आए हुए बच्चों में आम तौर पर ज़रूर कुछ और चीज़ें होंगी जो थोड़ा बहुत लिखित संदर्भ को सामने रखती होगी। दरअसल हमारे यहां साक्षर और निरक्षर के बीच हम एक सख्त विभाजन कर डालते हैं। और ऐसे समुदायों को निरक्षर समुदाय कहा जाता है। उनमें भी कितनी ही लिखने की परंपराएं होती हैं।

इसके बावजूद ये भी सच है कि जिसको हम प्रिंट मिडिया कहते हैं जिसमें किताब, अख़बार, पोस्टर हैं जो एक केंद्र की कक्षा में उपलब्ध होते हैं वो घरों में उपलब्ध नहीं है। ये ऐसे बच्चे हैं जिनका इस प्रकार की सामग्री से सामना होता ही नहीं है। ये भी समझ में आया कि इस प्रकार का माहौल बनना अपने आप में महत्त्वपूर्ण है, ज़रूरी है। इसलिए हर केंद्र पर एक छोटी लाइब्रेरी जहां पोस्टर, पढ़ने की सामग्री हो, जहां बच्चे लगातार व्यस्त रह सकें। यह कोशिश की गई कि गांव में जहां केंद्र नहीं बने वहां भी छपी सामग्री उपलब्ध कराई गई। ये काम किया गया मोबाइल लाइब्रेरी के ज़रिए जो साइकिल पर सौ–सवा–सौ किताबें लेकर गांव में पहुंचते और बच्चों को इकट्ठा करके उनके साथ गतिविधियां करते।

वे बच्चे किताबों को छूकर उसके अन्दर क्या है, देखने की कोशिश करते। यह एक प्रकार का स्वांग होता था बच्चों की ओर से मगर वह भी एक प्रकार का पढ़ना ही था।

गतिविधियों का जो अनुभव था मुझे लगता है कि वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक अनुभव था कि इस मोबाइल लाइब्रेरी के ज़रिए जिन केंद्रों में काम हुआ। इसमें एक अनौपचारिकता होते हुए भी औपचारिकता इस रूप में थी कि एक टूटा–फूटा, छोटा सा कमरा है, जिसमें एक बोर्ड लगाया। मोबाइल लाइब्रेरी जो साइकिल से गांव में पहुंचा और एक बोरी पर किताबें फैलाकर बच्चे बैठ गए। इसमें बहुत सारे ऐसे बच्चे आते थे जिनको बिल्कुल पढ़ना नहीं आता था। लाइब्रेरी का मतलब आमतौर पर ये है कि बच्चे पढ़ने आएंगे, बैठकर पढ़ेंगे, पर यहां पर बहुत सारे ऐसे बच्चे आते थे जिनकी पढ़ने में बहुत रुचि थी, जिज्ञासा थी। वे बच्चे किताबों को छूकर उसके अन्दर क्या है, देखने की कोशिश करते। यह एक प्रकार का स्वांग होता था बच्चों की ओर से मगर वह भी एक प्रकार का पढ़ना ही था।

मोबाइल लाइब्रेरी में जो काम करते थे अपने आप में वह मैकेनिकल काम नहीं था उनके साथ भी पढ़ने को लेकर पूरा उन्मुखीकरण किया जाता था। ये बहुत स्पष्ट था कि जो गतिविधियां हैं वे पढ़ना सीखने में काफ़ी उत्साह दिलाती थीं। एक महत्त्वपूर्ण बात है हमलोगों के लिए बहुत सीखने की कि बच्चे धीरे–धीरे एक किताब लेते थे, उलट–पुलट कर देखते थे, उस किताब को वापस करते थे, उसके बाद दूसरी किताब लेते थे, उसको उलट–पुलटकर देखते थे। अगली बार फिर वही किताबें नहीं लेते थे। वो बताते कि ये किताब हमने पढ़ ली है। ये वाली भी पढ़ ली है... और ये वाली भी पढ़ ली है... और अब हमको दूसरी किताबें दीजिए।

इन पूरे अनुभवों से यह भी निकलकर आया कि जो पढ़ नहीं पा रहे हैं मगर बोल रहे हैं। जो बोल रहे हैं उसको लिखा जाए। मतलब मौखिक परंपरा को वे अपने साथ लेकर आते

हैं। इसलिए क्यों न उनके विचारों को लिखित रूप में लाया जाए। इसके लिए एक विचार यह आया कि बच्चों की पत्रिका निकाली जाए। यह सचमुच बच्चों की पत्रिका थी जिसको ''बाल चिरैया'' कहते थे। तो इस पत्रिका में बच्चों की बातों, विचारों को छापा जाता था। इससे बच्चों को लगता कि उनकी बातों को औपचारिक स्वीकृति मिल रही है। यह बच्चों को काफ़ी उत्साहित करनेवाली चीज़ थी।

जो बच्चे लिखना नहीं जानते, जो अभी पढ़ने की शुरूआत इस रूप में कर रहे हैं उनके साथ तो फिर ये हुआ कि मोबाइल लाइब्रेरी में जो लोग जाते थे बच्चे जो बोलते थे वो लिखते थे, फिर इन बच्चों की जो भी कृतियां है उस पर गुलगुला नाम की छोटी पत्रिका निकाली जो अवधारणात्मक रूप से बहुत फ़र्क़ है बाल चिरैया से। ये उनकी पत्रिका है जिसको वे अपने घर ले जाते हैं। असल में एक बच्चा यह समझता है कि जो मैंने बोला था वह लिखा हुआ है इस पत्रिका में। ये जो मेरे दोस्त ने बोला वह लिखा हुआ है। तो यह सब पढ़ना है। हमलोगों ने पढ़ने को लेकर जो समझा और जितना अभी तक काम हुआ है, ये सब पढ़ना है, उसके अनुसार पढ़ने के अलग–अलग सौपान हैं। इसलिए इसको नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। इसलिए ये पढ़ने की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।

दूसरा, जिसका मैं बहुत ज़्यादा विस्तार नहीं करूंगी पर एक बात जो मुझे बहुत ज़रूरी लगती है कि इसी के साथ ज़ोर होता है ध्वनि आधारित, उसमें उच्चारण को लेकर, उसमें ग़लती करने की सम्भावना नहीं है। एक तो वह स्थिति जिसमें जोड़–जोड़ कर पढ़ना। मतलब शुरूआत है वर्णमाला चार्ट से अक्षर सीखने की। हमारे यहां की शिक्षा में सबसे पहले कक्षा में शुरूआत होती है वर्णमाला चार्ट से जिसमें ''कवर्ग'' और ''चवर्ग'' से। ये सब सीखे बिना आगे कैसे बढ़ा जा सकता है? ये बहुत बड़ा सवाल होता है स्कूलो में। बच्चे जिसको बोलते हैं और बोलते रहते हैं। फिर जोड़कर पढ़ना अगली अवस्था है। इसमें वो सब बातें शामिल हैं मात्रावाले, बिना मात्रावाले। मुझे याद है कि छत्तीसगढ़ में अनौपचारिक शिक्षकों के साथ जब काम कर रहे थे तो यह लगा कि आख़िर किताब कैसे बनती है जो कि शिक्षकों के हाथों में आती है उसकी बनने की प्रक्रिया को समझना ज़रूरी है। हमने शिक्षकों की वर्कशॉप की। इसमें हमने यह चर्चा की कि हर गांव का नाम कैसे पड़ा? इस कार्यशाला में काफ़ी दलित लोग भी आए थे जिनके अनुभव आए और उनको आधार बनाकर एक किताब बनाई। इस पर शिक्षा के विशेषज्ञ कहे जानेवाले सरकारी लोग आए, और उन्होंने कहा कि ये बिल्कुल ग़लत है और इस तरह से पढ़ाई नहीं होना चाहिए। शुरूआत जो है वो पहले बिना मात्रावाले शब्दों से होनी चाहिए। हमलोगों को थोड़ा मज़ा आया। हमलोगों ने पूछा कि बिना मात्रा वाले शब्द से बने हुए वाक्य बताएं। इस पर उन्होंने कहा कि "मदन घर जा, जल भर" वगैरह। हमने उनसे पूछा कि इसमें आप थोड़ा फ़र्क़ लाने की कोशिश करिए जो बिना मात्रावाले होने चाहिए। या "आ" की मात्रा वाला होना चाहिए। वास्तव में वे ख़ुद थक गए क्योंकि इन वाक्यों में फ़र्क़ लाना जो लगभग असम्भव सी बात है। इसमें सीमित विकल्प है। तब समझ में आया कि पढ़ने के लिए अगर हमने पाठ्य में विभिन्नता की तो यह सिद्धांत उस दृष्टि से भी अव्यावहारिक है। इतना ही नहीं सैद्धांतिक कारण भी है क्योंकि इस तरह से शुरूआत नहीं होनी चाहिए। वास्तव में यह अभ्यास ख़ुद करके देखिए कि आप बिना मात्रा वाले अक्षरों से कितना पाठ्य तैयार कर सकते हैं।

दरअसल पहले तो जोड़–तोड़कर, संघर्ष करते हुए पढ़ते हैं और उसके बाद कोई कह दे कि ठीक से उच्चारण नहीं हो रहा है, इस वजह से रोक दिया जाए और उसको सुधारा जाए तो सारी कहानी या कविता जिसको पढ़ने की कोशिश है वह पूरी तरह से भटक ही जाता है।

यह सब कितना अस्वाभाविक है इसको समझने की ज़रूरत है। हमारी इस व्यवस्था में सही उच्चारण हो, फिर जब शब्द पढ़ें तो वह ग़लत ना पढ़ें जाएं। जब अक्षर से शब्द पर आएं

तो ग़लत ना पढ़े, इस पर बहुत ज़ोर होता है। इसलिए सतत रूप से ग़लती सुधारने की प्रक्रिया चलती रहती है। आप सब अपनी कक्षा के अनुभवों को याद करिए जिसको हम गलती कहते है वह कितना और कैसे महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि बीच में रोककर उच्चारण सही करवाया जाए। सही ढंग से शब्द का उच्चारण हो। इसके संज्ञानात्मक परिणाम काफ़ी गहरे हैं। पढ़ना अगर अर्थ के लिए है तो पूरा उद्देश्य कहीं खो जाता है। दरअसल पहले तो जोड़–तोड़कर, संघर्ष करते हुए पढ़ते हैं और उसके बाद कोई कह दे कि ठीक से उच्चारण नहीं हो रहा है, इस वजह से रोक दिया जाए और उसको सुधारा जाए तो सारी कहानी या कविता जिसको पढ़ने की कोशिश है वह पूरी तरह से भटक ही जाता है।

हम यही मानते हैं कि अगर पढ़ा जाए तो उसमें लिखा गया है वह समझा जाए। मगर यह भटकाव स्पष्ट रूप से होता है। इसलिए बहुत बार बच्चों से जो दो–तीन वाक्य पढ़ भी लें तो उसमें क्या लिखा है यह पूछने पर उनके चेहरों पर उदासी छा जाती है। पढ़ लिया है इसके बावजूद क्या लिखा है पता नहीं है।

पढ़ना, पढ़कर समझने और उस पर प्रतिक्रिया करने की जो एक पूरी प्रक्रिया है उस संदर्भ में यह ज़रूरी हो जाता है कि हम जिसको ग़लती कहते हैं उसको भी नए रूप में समझें, पुनर्भाषित करें। शायद आप इस बात से अवगत होंगे कि बच्चों के संदर्भ में जो लिखी हुई भाषा है और उनकी अपनी भाषा है, उसमें कुछ फ़र्क़ है। इसको हम बोली और भाषा का फ़र्क़ कहते हैं। यह बोली और भाषा की एक बहुत बड़ी बहस का विषय है। ख़ैर, उसमें नहीं जाएंगे अभी।

हमने यह भी अनुभव किया कि ये बच्चे पढ़ते–पढ़ते बहुत सारे शब्दों को या तो दूसरी तरह से पढ़ते हैं या बदल ही देते हैं। जिस इलाके में हम काम कर रहे थे वहां जो बोलने की भाषा है वो बुंदेली और गोंडी का मिश्रण है और जो हम पढ़ा रहे थे वो हिन्दी है। इसलिए बहुत सारे शब्द जैसे अगर किताब में बकरी लिखा हुआ है तो उसको "चिरिया" कह कर आगे बढ़ जाते हैं। बिना किसी प्रयत्न के और उसमें कोई अर्थ का अनर्थ नहीं हो रहा है, वो चीज़ बदल नहीं रही है। परन्तु शायद चित्र में जो दिख रहा था या एक और महत्त्वपूर्ण बात है कि पढ़ने के दौरान किस तरह से लगातार अंदाज़ लगाया जाता है। अंदाज़ और भविष्यवाणी की क्या भूमिका है पढ़ने की प्रक्रिया में, उस प्रक्रिया को समझना ज़रूरी है। दरअसल आप अपने पढ़ने को भी कभी ध्यान से देखें तो शायद कई शब्द पढ़ते–पढ़ते बदल देते हैं। कई बार उसके अर्थ को नहीं बदलते हैं। पर जब उसके अर्थ को बदल देते हैं तो वापस पढ़ते हैं कि ये तो उसका अर्थ नहीं था। तो यह ग़लती कहा भी जाएगा।

जैसे कि ग़रीब और "ग़रीबनी" क्योंकि हमेशा ग़रीब औरत को गरीबनी कहा गया है। इस भाषा में ग़रीबनी किया। कलम को "किलम" कहा गया। पढ़ा गया तो किलम ही और उसी समय रोककर "किलम" नहीं "कलम" है। इसको समझने की ज़रूरत है कि यह किस तरह से एक रुकावट है पढ़ने की प्रक्रिया में। मैं ये कहूंगी कि ये भी अपने आप में सामाजिकीकरण का एक हिस्सा है क्योंकि बहुत सारे स्कूलों के शिक्षकों ने हमलोगों से कहा कि ये ऐसे कैसे हो सकता है। आप गलत पढ़ना कैसे स्वीकार कर सकते हैं। आप तो ग़लत चीज़ सीखा रहे हैं बच्चों को। तब इस बहस के शुरूआती दौर में कम से कम एक सार्थक चुनौती के रूप में पढ़ने का मतलब क्या है वो समझना ज़रूरी है। अर्थ को समझना, कहानी–कविता का मज़ा लेना ज़रूरी है। या इन चीज़ों में अटक जाना ज़रूरी है और ये सब निकलता है कि हम पढ़ने से क्या समझते हैं।

यह समझना ज़रूरी है कि कई बार हम कहते हैं कि बच्चे अपने आप बोलना सीख जाते हैं वैसे ही पढ़ना भी सीख जाएंगे, यह बात ठीक नहीं है। इसलिए शिक्षक की भूमिका वास्तव में बहुत ज़्यादा चुनौतीपूर्ण हो जाती है। और इसलिए वो ज़रूरी है कि किताबें रख देने भर से पढ़ना नहीं आ जाता है। किताबें उपलब्ध होने भर से पढ़ना नहीं आ जाता है।

आखिरी में दो ज़रूरी बातें कहूंगी।

एक है कि पढ़कर सुनाना। इसका बहुत महत्त्व है। हमलोगों ने जो काम किया उसमें ये एक आवश्यक हिस्सा था। यह समझना ज़रूरी है कि कई बार हम कहते हैं कि बच्चे अपने आप बोलना सीख जाते हैं वैसे ही पढ़ना भी सीख जाएंगे, यह बात ठीक नहीं है। इसलिए शिक्षक की भूमिका वास्तव में बहुत ज़्यादा चुनौतीपूर्ण हो जाती है। इसलिए वो ज़रूरी है कि किताबें रख देने भर से पढ़ना नहीं आ जाता है। किताबें उपलब्ध होने भर से पढ़ना नहीं आ जाता है। इसमें ज़रूरी हिस्सा है शिक्षक पढ़कर सुनाए और एक अवस्था है कि शिक्षक वह पढ़कर सुनाए जो बच्चों के पास भी है। बच्चे भी अपनी किताब में देख पा रहे हैं कि उनके पास क्या है। दूसरी चीज़ है जिसको हम लिखित माहौल कहते हैं उसके लिए बहुत कोशिश हुई कि पोस्टर्स बने, जिसमें बच्चे अपने आप घूमते–फिरते पढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। ऐसे पोस्टर्स किसी मशहूर किताब या कहानी या बच्चों के अपने गीतों पर बने। हालांकि इन सब पर हमने कोई शोध नहीं किया मगर ये सब बातें हमने पहचानी हैं।

बच्चों ने इस पूरी प्रक्रिया से गुज़रने के पहले जैसे किताब को पहचानना शुरू किया, पोस्टर्स को पहचानना शुरू किया। फिर पोस्टर्स को पहचानने की शुरूआत हुई कि किन–किन कविताओं के हैं। फिर उन कविताओं के शीर्षक पहचाने गए। इसके बाद पूरे–पूरे वाक्य पहचानने शुरू किए। और एक स्थिति ऐसी आई जब उन्होंने शब्दों को भी पकड़ना शुरू किया। और वास्तव में पढ़ना जिसको हम बहुत संकीर्ण दायरे में कहते हैं वह शुरू किया। दूसरी बात यह थी कि ज़ोर से पढ़ना होता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसमें जो पढ़ा जा रहा है वह खुद बच्चों के पास भी उपलब्ध है। यदि नहीं भी है तो बहुत सारी चीज़ें उपलब्ध हैं।

दूसरा है जिसमें कि हम उंगलियों को रखकर किताब आदि में पढ़ते हैं। पढ़ने के समय बच्चे उंगली से देखते भी जाएं कि क्या पढ़ा जा रहा है। यह देखा गया है कि बच्चे अपनी दिशा आम तौर पर अपने आप पकड़ते हैं। हमारे यह अवलोकन हैं कि शुरूआत की स्थिति में बहुत तेज़ी से उंगलियों को चलाते हैं और फिर धीरे–धीरे उंगलियां चलती हैं। जैसे शब्दों से पहचान होता है वैसे–वैसे उंगलियों की रफ़्तार कम होती जाती है।

हमें बहुत से लोगों ने कहा कि आप अक्षर चार्ट्स तो कक्षा में लगाइए। हमने ऐसा भी किया। हमने कहा अक्षर चार्ट्स लगा रहने दें ये भी देखते रहेंगे बच्चे। जहां और कई सारे पोस्टर्स देखेंगे वहां कोई नियम बनाने की ज़रूरत नहीं है। दूसरी बात थी विश्वास की कि इससे कैसे पढ़ना सीखेंगे। यह विश्वास गांववालों का धीरे–धीरे बना। हांलाकि मैं यह भी कहूंगी कि इसे पढ़ने के कोई कठोर तरीक़े के रूप में पेश नहीं करना चाहती। पढ़ने को कोई गतिविधियों का क्रम नहीं बनाया जा सकता।

साधना सक्सेना– दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग में पढ़ाती हैं।

कार्टून– **के.आर. शर्मा**

पुस्तकालय–पद्धति

गिजुभाई

गिजुभाई का नाम लेते ही एक ऐसे व्यक्ति की तस्वीर उभरकर आती है जो शिक्षा में अनंत आस्था रखता था। गिजुभाई का मानना था कि शिक्षा के माध्यम से समाज में बदलाव लाया जा सकता है। बच्चों के व्यक्तित्व को शिक्षा के माध्यम से आकार दिया जा सकता है। गिजुभाई ने शिक्षा के संदर्भ में पुस्तकालय की भूमिका को अपने ढंग से रेखांकित किया है। वे पुस्तकालय को शिक्षा की एक पद्धति के रूप में देखते हैं। बच्चों के संदर्भ में पुस्तकालय की भूमिका क्या हो? इस पर गिजुभाई ने काफी बढ़िया तरह से कहा है। केवल स्कूल में ही नहीं बल्कि गांव–गांव में पुस्तकालयों की पैरवी करते हैं गिजुभाई।

पुस्तक स्वयं एक शिक्षा–गुरु है और पुस्तकालय विद्यालय है। विद्यालय में लोग ज्ञान पाने के साधन–भर पाते हैं, जबकि पुस्तकालय में जाकर तो वे स्वयं ज्ञान प्राप्त करते हैं।

एक अच्छा पुस्तकालय कई शिक्षकों की गरज पूरी करता है। शिक्षक की तरह पुस्तकालय विद्यार्थियों को न तो धमकाता है, न उनसे अनुशासन पलवाता है, न कक्षा में चढ़ाता और उतारता है, न मिथ्या स्पर्धा में प्रवेश कराता है, और न परीक्षा का भय ही उत्पन्न करता है। फिर भी वह पल–पल में अपने पास आनेवालों को प्रेम–पूर्वक, विनय–पूर्वक और रुचि–पूर्वक पढ़ाता रहता है।

किसी भी स्थान में, चाहे विद्यालय के साथ अथवा विद्यालय के बिना

भी, पुस्तकालय शिक्षा की एक स्वयं पद्धति–स्वरूप है।

हर एक विद्यालय में पुस्तकालय को एक अतिरिक्त शिक्षक माना जाना चाहिए। शिक्षकों को चाहिए कि वे विद्यार्थियों को पूरे समय तक पढ़ाते रहने का अपना मोह छोड़कर उनको पुस्तकालय में जाने की अधिक से अधिक स्वतंत्रता दें। स्वाध्याय–पद्धति में विद्यार्थियों के लिए पुस्तकों के परिचय की अच्छी व्यवस्था रहती है। प्राथमिक विद्यालय की शिक्षा–व्यवस्था में बालकों को विद्यालय के आधे समय तक पुस्तकालय में रखने से शिक्षा का काम भी निश्चित रूप से अधिक सुदृढ़ बनेगा। जिस समय में विद्यार्थी पुस्तकालय में जाकर बैठें, उस समय में शिक्षक वहां एक अच्छे ग्रंथपाल की भूमिका निबाएं। पुस्तकालय की कौन–कौन सी पुस्तकें अच्छी हैं, किनको, कौन सी पुस्तक दी जाए, किसकी रुचि किस पुस्तक में जगाई जाए, आदि काम शिक्षक वहां करता रहे।

पुस्तकालय विद्यालय के रूप की तरह ही प्रयोगशाला के रूप में भी काम करता रहेगा। ग्रंथपाल के रूप में शिक्षक अच्छी–बुरी पुस्तकों की जांच करता रहे, बुरी पुस्तकों को टालकर वह अच्छी पुस्तकें विद्यार्थियों के सामने रखे। किस उमर में कौन सी पुस्तक रुचि–पूर्वक पढ़ी जाती है, किन विषयों पर लिखी गई पुस्तकें किस उमर में अधिक पढ़ी जाती हैं, पुस्तक को पढ़ते समय थकावट की मात्रा कितनी बढ़ती या घटती है, कुल मिलाकर विद्यार्थी पर पढ़ी हुई पुस्तक की कैसी छाप पड़ती है, आदि विषयों पर अपनी अलग–अलग टिप्पणियां तैयार करके उनके अध्ययन की मदद से शिक्षक कई सत्यों अर्थात् सिद्धान्तों का सार निकाल सकता है।

जब पुस्तकालय एक शिक्षा–पद्धति का रूप लेता है, तो अपने संग्रह में और अपनी रचना में वह एक सुव्यवस्थित स्थान का स्वरूप धारण कर लेता है। प्रवेशिका अथवा बालपोथी से लेकर आठवीं कक्षा तक की भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि विषयों की पुस्तकें, पुस्तकालय में होनी चाहिए। क्रम–क्रम से आगे बढ़नेवाली पुस्तकों को पढ़ते–पढ़ते पढ़ने वाले का ज्ञान भी एक सिलसिले के साथ आगे बढ़ता रहेगा। इस तरह सिलसिले से टांड पर रखी गई पुस्तकें पाठ्यपुस्तकों की गरज पूरी करेंगी। पाठ्यविषयों के जानकार लोगों को अभी तक इस प्रकार की पुस्तकों की रचना करने की बात सूझी नहीं हैं, और शिक्षकों को भी ऐसी पुस्तकें बहुत जरूरी लगी नहीं है। क्योंकि अब तक पुस्तकालय–परिचय–पद्धति की अपेक्षा पाठ्यक्रम का और व्याख्यान–पद्धति से शिक्षा देने का ज़ोर ही बहुत ज़्यादा रहा है।

विद्यालयों की तरह ही विद्यालयों के बाहर भी पुस्तकालय रूपी विद्यालय गांव–गांव में और मुहल्ले–मुहल्ले में स्थापित होने चाहिए।

विद्यालयों की तरह ही विद्यालयों के बाहर भी पुस्तकालय रूपी विद्यालय गांव–गांव में और मुहल्ले–मुहल्ले में स्थापित होने चाहिए। शिक्षकों को वेतन देना पड़ता है, जबकि पुस्तकालयों के लिए पुस्तकें ख़रीदनी होती हैं। शिक्षक को पढ़ाने की मेहनत करनी होती है, जबकि पुस्तकों को ज्ञान देने की कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती। हां, बार–बार पढ़े जाने पर उनको फटना तो पड़ेगा ही। शिक्षक की निश्चित उपस्थिति के बिना विद्यालयों में पढ़ाई का काम हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत, अगर हम पुस्तकालयों के दरवाजे चौबीसों घण्टे खुले रखेंगे, तो पढ़ाई चौबीसों घण्टे चलती रहेगी।

व्यवस्था, शान्ति, सभ्यता और विनय की शिक्षा देते रहने का प्रबन्ध भी पुस्तकालय कर सकेगा। पुस्तकों का उपयोग कैसे करना, उनको किस तरह से पढ़ना, पास में बैठ कर पढ़ने वाले के साथ कैसा व्यवहार करना, कैसे आना और कैसे जाना, बातचीत किस तरह से करना, आदि बातों को सीखने में अपने आप ही काफी पढ़ाई हो जाती है। इस तरह पुस्तकालय की भी अपनी एक शिक्षा–पद्धति है।

प्राथमिक शाला में शिक्षा–पद्धतियां : गिजुभाई ग्रंथमाला–9
प्रकाशक – मोंटेसरी–बाल–शिक्षण–समिति प्रकाशन से साभार।

शुरुआती पढ़ाई और शाला पुस्तकालय

ए.के. जलालुद्दीन

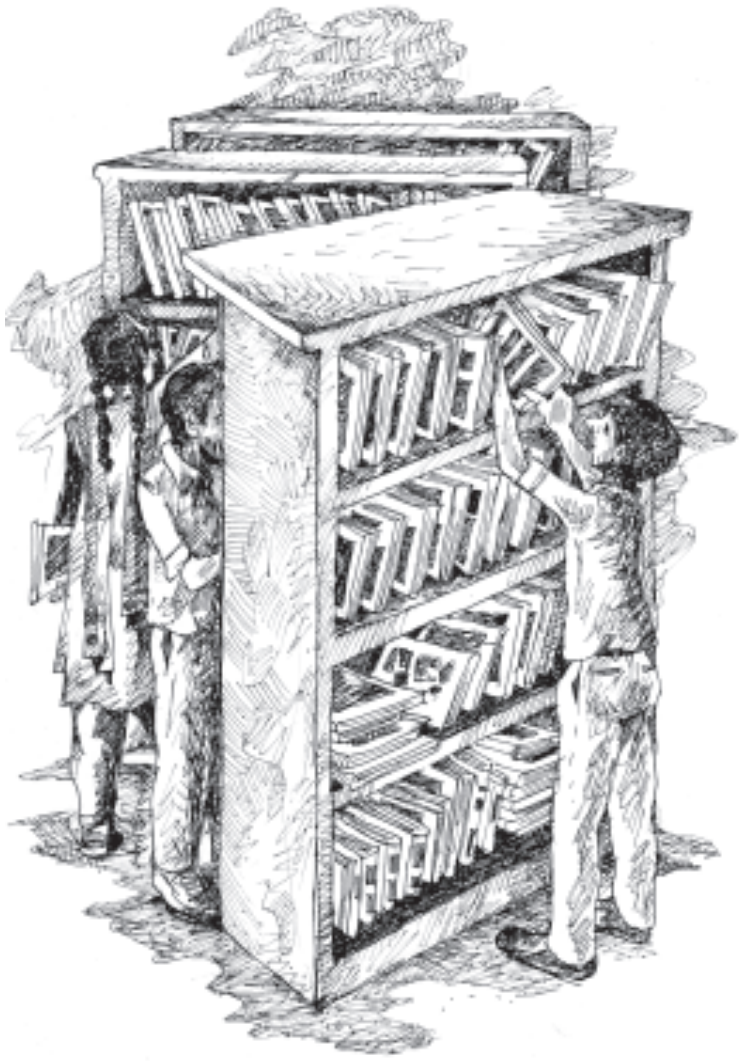

केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रायोजित विभिन्न योजनाओं के तहत सबको गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने की नवीकृत राष्ट्रीय प्रतिबद्धता ने प्राथमिक शालाओं में पुस्तकालयों की स्थापना अथवा स्कूलों को स्थानीय पुस्तकालयों से जोड़ने के सवाल की गहरी पड़ताल और पुनर्विचार का मुद्दा बना दिया है। ज़्यादातर राज्यों के स्कूलों में बच्चों की पुस्तकें तथा सीखने–सिखाने की सामग्री अलमारियों में बंद रखने की प्रवृत्ति को बदलने में ऑपरेशन ब्लैक–बोर्ड को बड़े पैमाने पर मिली नाकामयाबी ने, बच्चों की बुनियादी शिक्षा की गुणवत्ता में बढ़ोतरी के लिए बनाई गई रणनीतियों पर फिर से विचार–मंथन करने की ज़रूरत

पैदा कर दी है। यद्यपि कुछ प्राथमिक शालाओं में कभी–कभार बड़ी कक्षाओं यानी दर्जा तीन, चार, पांच के बच्चों को किताबें मुहैया कराई जाती हैं, लेकिन कक्षाओं में सुविचारित ढंग से बनाई गई उन क्लास–रूम रणनीतियों का इस्तेमाल कतई नहीं किया जाता जिनसे उनकी पठन क्रिया बेहतर हो या सीखने की प्रक्रिया का सिलसिला समृद्ध हो। वैसे भी पढ़ने के ऐसे अवसर कम ही बच्चों को मिल पाते हैं।

आम तौर से प्राथमिक स्कूलों की पहली–दूसरी कक्षाओं की पाठ्यचर्या बच्चों को ''पढ़ना सीखने'' में मदद करने के मक़सद से बनाई जाती है, जबकि बाद की तीन कक्षाओं की पाठ्यचर्या उन्हें ''पढ़कर सीखना'' पर केन्द्रित होती है। पहली प्रक्रिया शब्द संकेतों को खोलने (डीकोडिंग) पर ज़ोर देती है तो दूसरी, उनका अर्थ समझने पर (हालांकि दोनों कहीं–कहीं एक दूसरे से मिली–जुली रहती हैं क्योंकि वे अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करती हैं)।

आम तौर से प्राथमिक स्कूलों की पहली–दूसरी कक्षाओं की पाठ्यचर्या बच्चों को ''पढ़ना सीखने'' में मदद करने के मक़सद से बनाई जाती है, जबकि बाद की तीन कक्षाओं की पाठ्यचर्या उन्हें ''पढ़कर सीखना'' पर केन्द्रित होती हैं। पहली प्रक्रिया शब्द संकेतों को खोलने (डीकोडिंग) पर ज़ोर देती है तो दूसरी, उनका अर्थ समझने पर (हालांकि दोनों कहीं–कहीं एक दूसरे से मिली–जुली रहती हैं क्योंकि वे अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करती हैं)। संकेतों को स्पष्ट करने की प्रक्रिया अर्थहीन प्रतीकों अर्थात् वर्णमाला के अक्षरों की पहचान और उनके लक्षणों को सुपरिचित कराने की क्रिया से जुड़ी हुई है। प्रारंभिक कक्षाओं में ऐसी शिक्षण पद्धति अपनाना उपयोगी हो सकता है जो अक्षरों को तुकांत कविताओं तथा तस्वीरों के साथ इस्तेमाल में लाने पर ज़ोर दे। सम्पूर्ण भाषा पद्धति (होल लैंग्वेज एप्रोच) के साथ ध्वनि–विज्ञान (फ़ोनेटिक्स) और ध्वनिग्राम (फ़ोनेमिक) का सर्जनात्मक उपयोग शुरुआती या पहले वर्ग (फ़र्स्टग्रेड) की कक्षाओं में पढ़ना सीखने की रफ़्तार में इज़ाफा कर देता है। पढ़ाने के ऐसे असरदार तरीक़ों को अनुसरण करते हुए बच्चा पहले वर्ग के अन्त तक आसान किताबें या पाठ्य–सामग्री पढ़ने की स्थिति में पहुंच जाता है। अब इस बात पर ख़ासा ज़ोर दिया जा रहा है कि उपरोक्त पद्धतियों के समान्तर पढ़ने की अधिक रोचक व अर्थपूर्ण किंतु सीमित शब्दावली वाली पाठ्यसामग्री से भी बच्चों को परिचित करवाया जाना चाहिए। इस तरह की पूरक पाठ्यसामग्री में धीरे–धीरे बढ़ते स्तर की ख़ूब सारी तस्वीरों वाली कहानी की किताबें होती हैं।

इस मुक़ाम पर पहुंचकर बच्चों की दृश्य शब्दावली (साइट वोकैब्यूलरी) के समृद्ध होने, हिज्जों के स्वरूप को समझकर शब्द संयोजन सीखने की दिशा में प्रगति करने तथा अक्षरों के क्रम और उनके विन्यास के उच्चारण की समझ द्वारा नए शब्दों के अर्थ खोजने की क़ाबिलीयत बढ़ जाने की अपेक्षा की जाती है।

प्रथम वर्ग के बच्चों को पढ़ना सीखने के पहले ही दिन से चित्र बनाने तथा लिखने को कोशिश करने के लिए प्रोत्साहित करने से उनमें उद्देश्य की समझ विकसित होती है और पढ़ने–लिखने की कुशलता बढ़ती है। वयस्क लोग जब कक्षा में या घर पर बच्चों को पढ़कर सुनाते हैं या उसके साथ पढ़ते हैं, तो उनके पढ़ने–लिखने की कुशलता और समझ या बोध में वृद्धि होती है। मानक भाषा में लिखी सामग्री को पढ़कर सुनाने से उनकी ध्वनिग्राम संबंधी जागरूकता में इज़ाफा होता है। एक चित्र पुस्तिका अथवा सीखने की किसी सामूहिक गतिविधि को केन्द्र में रखकर किया गया ध्वनिग्राम संबंधी विचार–विमर्श बच्चों में नए–नए विचारों को जन्म देती है और शब्दों के उच्चारण तथा उनकी अभिव्यक्ति के संयोजन को बेहतर बनाता है। वर्ग दो के बच्चों को विविध प्रकार की लिखित एवं दृश्य–सामग्री के संपर्क में आना उनके स्वतंत्र (आत्मनिर्भर) पाठक बनने में सहायक सिद्ध होता है। यह कार्य बच्चे अकेले, जोड़ी बनाकर या समूहों में कर सकते हैं। बच्चों को पढ़े गए पाठों या अन्य पठित

सामग्री से सवाल उठाना और उनके जवाब तलाशना (जो कि उनके पाठों में साफ़तौर पर ना दिए गए हों) धीरे–धीरे उन्हें पढ़े हुए सोचने–समझनेवाला यानी समालोचनात्मक पाठक बना देता है; ऐसे सजग पाठक जो नए पाठों की चुनौतियों का मुक़ाबला करने में समर्थ हों।

वर्ग दो की पाठ्यचर्या मुख्यरूप से बच्चों को नई शब्दावली, अपेक्षया कठिन वर्तनियों की संरचनाएं (पैटर्न) तथा विराम–चिन्हों और वाक्य रचना के नियमों से संबंधित नई भाषायी–संरचना सिखाने के मक़सद से बनाई जाती है। यह वह स्थिति होती है जिस पर पहुंचने के बाद बच्चों को नए अवधाराणात्मक शब्दों (कॉन्सेप्ट वर्ड्स) को उनके उस संदर्भ में समझने में सहायता दी जानी चाहिए जो उन्हें उन शब्दों का अर्थ पता लगाने का सुराग देती है। शिक्षक यह कार्य ऐसी अनेक रोचक कक्षा–गतिविधियों के ज़रिए कर सकते हैं जो समझ कर पढ़ना सीखने की पठन क्रिया पूर्व की, वर्तमान में पढ़ने की और पढ़ने के बाद की अवस्थाओं से जुड़ी हुई हों। इस अवस्था में कक्षा–पुस्तकों के अलावा बच्चों की दिलचस्पी वाली सूचनापरक पाठ्य–सामग्री भी उनमें पढ़ने की आदत पैदा करने में मददगार साबित होती है। हमारे यहां पर्यावरण अध्ययन के लिए आम तौर से कोई पाठ्यपुस्तक निर्धारित नहीं होती है। इस विषय के लिए निश्चित समय का उपयोग पढ़ने–लिखने के ऐसे स्वतंत्र अभ्यासों के लिए किया जा सकता है जो विषय की पाठ्यचर्या से जुड़े हुए हों।

वयस्क लोग जब कक्षा में या घर पर बच्चों को पढ़कर सुनाते हैं या उसके साथ पढ़ते हैं, तो उनके पढ़ने–लिखने की कुशलता और समझ या बोध में वृद्धि होती है। मानक भाषा में लिखी सामग्री को पढ़कर सुनाने से उनकी ध्वनिग्राम संबंधी जागरूकता में इज़ाफा होता है। एक चित्र पुस्तिका अथवा सीखने की किसी सामूहिक गतिविधि को केन्द्र में रखकर किया गया ध्वनिग्राम संबंधी विचार–विमर्श बच्चों में नए–नए विचारों को जन्म देती है और शब्दों के उच्चारण तथा उनकी अभिव्यक्ति के संयोजन को बेहतर बनाता है।

अब यह सर्वविदित है कि कक्षा तीन, चार, पांच में पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से जो अवधारणाएं, सिद्धान्त, प्रक्रियाएं आदि पढ़ाई जाती हैं उनमें और बच्चों की अपनी ज़िंदगी के तजुर्बों में काफी फ़र्क़ होता है। कक्षा दो से तीन तक आते–आते बच्चे की शब्दावली (जिसे वह किताब में पढ़कर समझ सकता है) तीन हज़ार से तकरीबन पन्द्रह हजार तक पहुंच जाती है। तीसरी कक्षा में बच्चे के लिए हर चौथा शब्द नई अवधारणा वाला शब्द (कॉन्सेप्ट वर्ड) होता है। लेखक द्वारा पाठ में मुहैया कराए गए संदर्भ अमूमन बच्चे को नए शब्द का अर्थ समझाने में नाकाफ़ी होते हैं– भले ही बच्चा शब्द को अक्षरवार पढ़ सकने की दक्षता हासिल कर चुका हो। बार–बार पढ़ने से बच्चा ऐसे शब्दों को देखकर पहचानने तो लगता है, लेकिन उसके लिए उन्हें आसानी से प्रयोग करना फिर भी मुश्किल होता है अर्थात् वह उनका सहज उपयोग करने में स्वयं को सक्षम महसूस नहीं करता। यदि हम साक्षरता के विभिन्न स्तरों को देखें जो एक प्राथमिक–स्तर के पाठक को हासिल करने होते हैं (मसलन : पाठ्यसामग्री की पहचान, उसमें भागीदारी करना, उसकी विवेचना करना और उसका इस्तेमाल करना) तो हम समझ सकते हैं कि मात्र एक ही किताब से ये सभी क्षमताएं हासिल करना एक नए, नन्हे शिक्षार्थी के लिए कितना कठिन होता है।

यह बात अब व्यापक स्तर पर स्वीकार कर ली गई है कि अकेला स्कूल अपने ही साधनों से विद्यार्थियों को सीखने की ये स्थितियां, अवसर तथा अनुभव दे पाने में समर्थ नहीं है, जिससे बच्चे यह सभी ज्ञान, दक्षताएं और मूल्य सीख जाएं जो पाठ्यक्रम में शामिल हैं। सीखने के वांछित माहौल की सृष्टि के लिए स्कूल के साथ स्थानीय समुदाय और बच्चों के परिवारजनों के सच्चे सहयोग की भी दरकार होती है। अब यह भी सर्वज्ञात है कि शहरी उच्च व मध्यवर्ग के अभिभावक तथा उनके द्वारा अपने बच्चों के लिए चुने गए स्कूल ऐसी स्थितियां बनाने के लिए हमेशा

प्रयत्नशील रहते हैं; लेकिन शहरी तथा गांव के ग़रीब तबके के लोग और वे तमाम सरकारी स्कूल जहां इन समुदायों के बच्चे पढ़ते हैं– ऐसे चुनौतीपूर्ण कार्य करने की बमुश्किल कुव्वत रखते हैं। लिहाज़ा, ऐसे प्राथमिक स्कूलों को शिक्षण कार्य के अतिरिक्त संसाधन ही नहीं, बल्कि इन संसाधनों के असरदार इस्तेमाल के लिए भी उचित शिक्षण स्थितियां बनाने के मक़सद से गुणवत्ता सुधार की जो नई पहल हो रही हैं वे महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं।

'पढ़ना सीखना' और 'पढ़कर सीखना' की क़ाबिलीयत हासिल करना अपने आप में एक पूरा काम है। इसे टुकड़ों में या कहें खंडित प्रयत्नों से थोड़ा–थोड़ा करके मुकम्मिल नहीं किया जा सकता। ज़रूरी सहूलियतों से भी महरूम मौज़ूदा प्राथमिक स्कूलों में ऐसी योजनाओं को कामयाब बनाने के लिए स्कूल सुधार के एक बड़े ढांचे के तहत काम किया जाना लाज़िमी है। इन सुधारों में स्थानीय संदर्भ समूहों, संदर्भ–केन्द्रों द्वारा इन स्कूलों को कारगर अकादमिक सहायता मुहैया करानी होगी। साथ ही बेहतर शिक्षा से सीधे प्रभावित होने वाले लोगों (जैसे विद्यार्थी और उनके अभिभावक) की व्यापक हिस्सेदारी की योजना बनाने और उसको अमल में लाने का काम उन कतिपय स्कूलों, शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा इलाकाई समुदायों के तजुर्बों से सबक लेते हुए किया जा सकता है जो बीहड़–बाधाओं के बावजूद (एस्क्यूला न्यूवा) की सफलता का श्रेय वहां के हर मुल्क के उस पक्के इरादे को जाता है जिसके तहत उन्होंने प्राथमिक स्कूलों के प्रबंधन के विकेन्द्रीकरण का फैसला किया है।

'पढ़ना सीखना' और 'पढ़कर सीखना' की क़ाबिलीयत हासिल करना अपने आप में एक पूरा काम है। इसे टुकड़ों में या कहें खंडित प्रयत्नों से थोड़ा–थोड़ा करके मुकम्मिल नहीं किया जा सकता।

बच्चों के पढ़ने–लिखने के काम को समृद्ध करने के लिए शाला पुस्तकालयों को असल कक्षा प्रक्रियाओं से जोड़कर उन्हें (स्कूल पुस्तकालयों को) प्रभावी और कार्यात्मक बनाने के काम को अंजाम दे रहे हैं। आम तौर पर ज़्यादातर मामलों में ऐसे व्यक्तिगत प्रयास और निष्ठाएं ही असरंदाज़ या प्रभावी सिद्ध होती है। सवाल यह है कि एक व्यवस्थित बदलाव लाने में हम ऐसी निजी और स्थानीय पहलकदमियों से कैसे लाभ उठा सकते हैं।

हाल के वर्षों में लातिन अमेरिका के अनेक देशों में बाल–मित्र स्कूल आन्दोलन (चाइल्ड फ्रेंन्डली स्कूल मूवमेंट) द्वारा ग्रामीण प्राथमिक शालाओं को पुनर्जीवन मिला है। लातिन अमेरिका के नवस्कूल आन्दोलन यह काम स्थानीय स्कूल अधिकारियों के सशक्तीकरण और स्कूलों को बेहतर बनाने के लिए भागीदारी पद्धति से स्कूल आधारित योजना व बजट बनाने के ज़रिए किया गया है। इसके अलावा नज़दीकी विश्वविद्यालयों, शिक्षक–शिक्षण तथा उच्चतर शैक्षणिक संस्थाओं को भी कक्षा–संयोजन और उनकी गतिविधियों में गुणात्मक परिवर्तन एवं प्रत्येक बच्चे के सीखने की क्षमता व उपलब्धि में सुधार पर अधिक ज़ोर देने के काम में सक्रिय तौर से भाग लेने के लिए लामबन्द किया गया है। इस प्रक्रिया के चलते भांति–भांति के बाल–साहित्य की ज़बरदस्त मांग उत्पन्न हुई जिसे स्कूलों और इलाकाई पुस्तकालयों द्वारा पूरा किया गया। अब वक्त आ गया है कि हम दूसरों के अनुभवों से सीखें।

ए.के. जलालुद्दीन : दिल्ली विश्वविद्यालय में शिक्षा के आचार्य रहे। एनसीईआरटी और यूनेस्को से भी लम्बे समय तक जुड़े रहे। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया में अतिथि आचार्य (विजिटिंग प्रोफेसर) हैं तथा ''ब्रेक'' , 'प्लान इंटरनेशनल' और बांग्लादेश में 'केयर' जैसी संस्थाओं के परामर्शदाता रहे हैं।

यह लेख प्राथमिक शिक्षा के मुद्दे से साभार।

पुस्तकालय
क्या कहता है एनसीएफ – 2005?

पुस्तकालयों की प्रासंगिकता एवं महत्त्व पर एनसीईआरटी के तत्त्वावधान में तैयार एनसीएफ–2005 में भी कहा गया है। पुस्तकालय कैसे शिक्षण का अहम हिस्सा बन सकते हैं? पुस्तकालय को अधिगम, आनंद और तन्मयता के साधन के रूप में इस्तेमाल करने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया जाए और शिक्षकों को भी इसके लिए प्रशिक्षित किया जाए। पुस्तकालय के उपयोग के लिए समय का बंधन नहीं हो। सामुदायिक और सरकारी पुस्तकालय को स्कूली पुस्तकालय के नेटवर्क से जोड़ा जाए। पठित पुस्तकों पर चर्चा करने, सुनने और सुनाने के लिए पुस्तकालय का उपयोग हो। इन सबके अलावा पुस्तकालय में रोशनी और बैठने की अच्छी व्यवस्था हो।

प्रस्तुत है एनसीएफ –2005 की पुस्तकालय को लेकर अनुशंसाएं–

स्कूल पुस्तकालय काफ़ी समय से नीतिगत सुझावों का हिस्सा रहे हैं, लेकिन आज भी स्कूलों में चालू हालत में पुस्तकालय बिरले ही देखने को मिलते हैं। यह ज़रूरी है कि भविष्य में योजनाएं बनाते समय पुस्तकालय को स्कूल के हर स्तर के लिए एक आवश्यक घटक के रूप में देखा जाए। शिक्षकों और विद्यार्थियों दोनों को ही इस बात के लिए प्रोत्साहित और प्रशिक्षित करने की ज़रूरत है कि यह पुस्तकालय को अधिगम, आनंद एवं तन्मयता के साधन के रूप में इस्तेमाल करें। स्कूल पुस्तकालय की संकल्पना एक ऐसे बौद्धिक स्थल के रूप में की जानी चाहिए जहां शिक्षक, विद्यार्थी और निकटस्थ समुदाय के लोग ज्ञान के गहरे अर्थों और कल्पनाशीलता की तलाश में आएं। किताबों के सूचीकरण और अन्य व्यवस्थाओं को वहां इस प्रकार विकसित किया जाना चाहिए कि बच्चे आत्मनिर्भर रूप से पुस्तकालय का उपयोग कर पाएं। किताबों और पत्रिकाओं के अलावा, पुस्तकालय में सूचना तकनीक के नए आयामों की सुविधा होनी चाहिए ताकि विद्यार्थी विस्तृत विश्व से जुड़ पाएं। नियोजन के आरंभिक चरणों में खण्ड के स्तर या संकुल स्तर पर पुस्तकालयों को समृद्ध किया जा सकता है। भविष्य में भारत को प्रत्येक स्कूल में पुस्तकालय स्थापित करने की तरफ़ क़दम उठाने चाहिए, चाहे स्कूल किसी भी स्तर का हो। देश के विभिन्न हिस्सों में, ग्रामीण इलाकों में सामुदायिक पुस्तकालय चल रहे हैं और ज़िलों के मुख्यालयों में भी सरकारी पुस्तकालय की व्यवस्था है। भविष्य में नियोजन की यह मांग होगी कि इस तरह की संस्थाओं को स्कूली पुस्तकालयों के नेटवर्क में जोड़ दिया जाए जिससे संसाधनों का अधिकतम उपयोग हो पाए। राजा राम मोहन राय लाइब्रेरी फाउंडेशन को अतिरिक्त संसाधन उपलब्ध करवाए जा सकते हैं कि वह स्कूली पुस्तकालयों के नेटवर्क की संकल्पना में एक संयोजक संस्था की तरह काम करें और नेटवर्क बन जाने के बाद उसके रखरखाव पर भी ध्यान दें।

दिन–प्रतिदिन के स्कूल जीवन में पुस्तकालय कई प्रकार के उद्देश्य पूरे करते हैं। पुस्तकालय के उपयोग को एक ही घंटे तक सीमित करने से बच्चों के पठन के प्रति रुचि जगने में मुश्किल आती है। विद्यार्थियों को किताबें घर ले जाने की सुविधा दी जानी चाहिए। पुस्तकालय संचालन, प्रबंधन और इस्तेमाल के लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण से व्यवस्था संबंधी स्थितियों की मांग से निपटा जा सकता है। जहां स्कूल भवन में अलग से पुस्तकालय कक्ष की व्यवस्था हो, वहां एक सकारात्मक लोकाचार के लिए रोशनी और बैठने की अच्छी व्यवस्था की तरफ़ ध्यान देने की ज़रूरत है। यह भी संभव हो सकता है कि शिक्षक, पुस्तकालय के संसाधनों के इस्तेमाल द्वारा पुस्तकालय में कक्षा आयोजित करें, पुस्तकालय के अंदर कक्षा लेने या पुस्तकालय से पर्याप्त पुस्तकें कक्षा में ले जाने और इसके अलावा, चर्चा करने, किसी शिल्पकार को सुनने या कहानी सुनाने के लिए भी पुस्तकालय का इस्तेमाल किया जा सकता है। शिक्षकों को समर्थन देने के लिए संकुल एवं खण्ड स्तर पर ऐसे संसाधनात्मक पुस्तकालय बना कर पाठ्यचर्या के नवीनीकरण को मज़बूत किया जा सकता है। हर खण्ड को किसी एक विषय क्षेत्र में विशिष्ट बनाया जाए ताकि जिले में पर्याप्त संसाधन उपलब्ध हो जाएं।

किताबों और पत्रिकाओं के अलावा, पुस्तकालय में सूचना तकनीक के नए आयामों की सुविधा होनी चाहिए ताकि विद्यार्थी विस्तृत विश्व से जुड़ पाए। नियोजन के आरंभिक चरणों में खण्ड के स्तर या संकुल स्तर पर पुस्तकालयों को समृद्ध किया जा सकता है। भविष्य में भारत को प्रत्येक स्कूल में पुस्तकालय स्थापित करने की तरफ़ कदम उठाने चाहिए, चाहे स्कूल किसी भी स्तर का हो।

अपना पुस्तक कोना

कैसे करें किताबों का चयन?

बच्चों में समझकर पढ़ने के कौशल का विकास होगा तो उनके लिए अन्य विषय भी समझना आसान हो जाएगा। पढ़ने के कौशल से जुड़ी तमाम चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए एनसीईआरटी द्वारा सर्व शिक्षा अभियान के अंतर्गत एक रीडिंग सेल की स्थापना की गई है। सैल के कार्यों में एक महत्त्वपूर्ण है बच्चों तक स्तरीय पुस्तकें पहुंचाना ताकि वे स्वयं पढ़ें, आनन्द के लिए पढ़ें और इस तरह पढ़ने की संस्कृति विकसित हो सके।

कुछ बच्चे स्वयं किताबों की ओर आकर्षित होते हैं तो कुछ बच्चों को किताब की अद्‌भुत, विलक्षण दुनिया से परिचित करवाने की ज़रूरत होती है पर दोनों ही स्थितियों में किसी को तो पहल करनी होती है... अध्यापक हों या अभिभावक या दोनों ही। बच्चे किताबों के चित्रों, कहानियों में अपनी दुनिया ढूंढ़ते हैं। शब्द, शब्दों की ध्वनियां उनके लिए खिलौनों की तरह होती हैं जिन्हें बार–बार दोहरा कर वे उनसे खेलते हैं...। उनकी कल्पना के परिन्दे अपने सुकुमार नन्हे पंख पसारकर अनगिनत उड़ानें लेते हैं। इस उड़ान के लिए मजबूत तना बनता है छपी सामग्री से समृद्ध माहौल जो उन्हें बहुत छोटी अवस्था से ही मिल सके।

ज़मीनी हक़ीक़त यह है कि अधिकांश विद्यालयों में, अधिकांश बच्चों के पास, यहां तक कि अध्यापकों के पास भी पढ़ने–पढ़ाने की सामग्री के रूप में सिवाय पाठ्यपुस्तकों के और कुछ होता ही नहीं है। पाठ्यपुस्तकें बच्चों के लिए परीक्षा और प्रश्नों के उत्तर खोजने का साधन मात्र रह जाती हैं या यूं कह लें कि डर और

बोझ का पर्याय, जहां पढ़ने का आनंद भी डरा हुआ सा कहीं दुबककर बैठा रहता है। पढ़ना सिखाने की परंपरागत विधियों में प्रायः अधिक ज़ोर रटने पर रहता है। समझ और रुचि के साथ पढ़ने के कौशल का समुचित विकास नहीं हो पाता। अक्षर और ध्वनियों को जोड़कर शब्दों और वाक्यों को पढ़ना वास्तव में पढ़ना नहीं है। पढ़ने के दौरान अनेक मानसिक प्रक्रियाएं सक्रिय रहती हैं जैसे पूर्व अनुभवों से जोड़ना, अनुमान लगाना आदि। ऐसे में अगर ढेर सा बाल साहित्य बच्चों तक पहुंचाया जा सके तो निश्चय ही हम पढ़ने के आनंद को बच्चों तक वापस ला सकेंगे।

बच्चों में समझकर पढ़ने के कौशल का विकास होगा तो उनके लिए अन्य विषय भी समझना आसान हो जाएगा। पढ़ने के कौशल से जुड़ी तमाम चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए एनसीईआरटी द्वारा सर्व शिक्षा अभियान के अंतर्गत एक रीडिंग सेल की स्थापना की गई है। सेल के कार्यों में एक महत्त्वपूर्ण कार्य है बच्चों तक स्तरीय पुस्तकें पहुंचाना ताकि वे स्वयं पढ़ें, आनन्द के लिए पढ़ें और इस तरह पढ़ने की संस्कृति विकसित हो सके।

किताबों की दुनिया की कुछ रोशनी बच्चों की चौखट तक लाने का कदम है मथुरा के 500 विद्यालयों में रीडिंग कार्नर यानी अपने पुस्तक कोने की परिकल्पना जहां 'नन्हे' पाठकों (कक्षा एक और दो) का पुस्तकों से परिचय हो सके। इस पुस्तक कोने में कक्षा एक और दो के बच्चों के लिए अनेक चित्रात्मक पुस्तकें हैं तो भरपूर चित्रों से सजी कहानी की किताबें जिनमें बहुत कम शब्द हों। कुछ ऐसी किताबें भी हैं जिन्हें अध्यापक पढ़कर बच्चों को सुना सकते हैं। ये किताबें पढ़ने के आनंद के साथ बच्चों का भाषायी कौशल भी सुदृढ़ कर सकेंगी। पर इसके लिए ज़मीन होगी – आज़ादी और आनंद– ऐसा पुस्तक कोना जहां किताबें अलमारियों, बक्सों की कैद से बाहर हों, सुलभ हों, बच्चे उन्हें बेरोकटोक छू सकें, पढ़ सकें, साथियों से उन पर बात कर सकें ।

बच्चों में समझकर पढ़ने के कौशल का विकास होगा तो उनके लिए अन्य विषय भी समझना आसान हो जाएगा । पढ़ने के कौशल से जुड़ी तमाम चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए एनसीईआरटी द्वारा सर्व शिक्षा अभियान के अंतर्गत एक रीडिंग सेल की स्थापना की गई है।

पुस्तक चयन के आधार बिंदु

इसमें दो राय नहीं हैं कि अपने परिवेश के साथ बाहर की दुनिया को जानने समझने के लिए सेतु की तरह होती हैं किताबें। कैसे पता लगाएं कि कौन सी पुस्तक बच्चों के लिए 'खुल जा सिमसिम' बन उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरित कर सकेगी। ऐसा कोई बना बनाया नुस्ख़ा भी नहीं है जिसके आधार पर बच्चों के लिए किताबें चुनी जा सकें। परियोजना विद्यालयों के लिए पुस्तकें चुनते समय उम्रगत ख़ासियतों का ध्यान रखते हुए पर्याप्त संख्या में पुस्तकें चुनी गई ताकि बच्चों तक तरह–तरह की पुस्तकें पहुंच सकें। इस कार्य के लिए एक समिति बनाई गई जिसमें बाल साहित्य की समझ रखनेवाले लोग, ऐसे उत्साही अध्यापक जो बाल साहित्य का लगातार कक्षा में उपयोग करते हैं और बच्चों की पढ़ने की संस्कृति विकसित करने में लगे हैं, शामिल हुए। बाल साहित्य प्रकाशकों से पुस्तकें मंगवाई गईं। प्रत्येक पुस्तक को सूचीबद्ध करते हुए उस पर चर्चा की गई। यह काम थोड़ा और मुश्किल इसलिए भी लग रहा था क्योंकि जिन विद्यालयों की बात की जा रही है वहां बाल साहित्य के संसार से परिचित होने का अवसर शिक्षकों और बच्चों को मिला ही नहीं है। बच्चों की भाषायी क्षमताएं और परिवेश का पूरा ध्यान रखते हुए चयन में काफ़ी लचीलापन रखना ज़रूरी था। भाषा और चित्रों का तो ध्यान रखा ही गया। अच्छी किताबों के जो आम तौर पर मानक बनाए जाते हैं हो सकता है हर किताब उस पर पूरी तरह खरी न उतरती हो पर हर किताब में कुछ न कुछ ख़ास ज़रूर है। सफलता इसी में है कि बच्चों के मन के कितने नज़दीक पहुंच पाते हैं ख़ास तौर पर कम संसाधनवाले माहौल में। पुस्तकों की विषयवस्तु, कथ्य सरल हो, छोटे पर सार्थक सरल संरचनावाले वाक्य हों, चित्र विषय को प्रतिबिम्बित करते हों। किताबों में बच्चों की निराली, हंसमुख दुनिया हो, उनका उमंग और चहक भरा अनुभव संसार हो। ऐसे बोलते

चित्र हों जो बच्चों को मूर्त अनुभव दे सकें, बहुत सी चित्र शैलियों को गड्ड–मड्ड न किया गया हो। बड़ों द्वारा बच्चों के लिए किताबें चुनना मात्र उन्हें उंगली पकड़कर कुछ क़दम चलवाने जैसा है ताकि वे स्वयं दौड़ने के लिए तैयार हो सकें।

अपने पुस्तक कोने की पुस्तकों की सूची को श्रेणीबद्ध किया गया है पर केवल सुविधा के लिए । पुस्तकों का वर्गीकरण कर उन्हें श्रेणियों के खांचे मे डालने की कोई बौद्धिक क़वायद नहीं थी। श्रेणियां सिर्फ़ इसलिए कि कोई विधा छूट न जाए और चयन असंतुलित रह जाए।

चयन प्रक्रिया की ज़रूरत

पुस्तक चयन के लिए अपेक्षित है कि चयन में अनेक ऐसे व्यक्तियों को जोड़ा जाए जो बाल साहित्य के प्रति संवेदनशील हों। बाल साहित्य विशेषज्ञ, अध्यापक, चित्रकार साथ मिलकर प्रत्येक पुस्तक पर चर्चा करें और उसे भाषा, चित्रांकन, विषय वस्तु के प्रवाह, सरलता और रंजकता के आधार पर परखें। पाठकों की उम्रगत रुचियों और विशिष्टताओं का बराबर ध्यान रखना ज़रूरी है। प्रकाशकों से पुस्तकें मंगवा लेना भर काफ़ी नहीं है। पुस्तकों के हर पहलू पर बहस होगी तभी स्तरीय पुस्तकों का चुनाव हो सकेगा। ऐसा न हो कि ऐसी किताबें चुन ली जाएं जो बड़ों की समझ से उपयोगी हों पर बच्चों की समझ से परे हों। बच्चे कैसी किताबें पसंद करते हैं मोटी, छोटी, बड़ी, रंगीन चित्रोंवाली इन सब का अंदाज़ किताबें चुनते समय बड़ों को लगाना होता है।

शब्दरहित चित्र पुस्तकें

ऐसी किताबें लेने का प्रयास रहा जिनके चित्रों पर 'बात' करने की पर्याप्त गुंजाइश हो। 'बात करना' सीखने और सीखे हुए अनुभवों को मज़बूत करने का कारगर तरीक़ा है। तस्वीरें स्रोत समझी जाती हैं संवाद की, अभिव्यक्ति की... बच्चों को अपनी बात कहने के अवसर की। भाषायी गतिविधि के रूप में भी बच्चे चित्रों के आधार पर अपनी कल्पना से उसमें बहुत कुछ जोड़ सकते हैं, पूर्व अनुभवों से संबंध स्थापित कर सकते हैं। छोटे बच्चों (कक्षा एक और दो) के लिए शब्दरहित चित्रात्मक पुस्तकें चुनते हुए यह विचार लगातार बना हुआ था कि ख़ुशनुमा रंगों के साथ एक चित्र में बहुत सी घटनाएं एक साथ न दर्शायी गईं हों। चित्रों में गति और स्फूर्ति को साथ ही चित्रों के विस्तार में बहुत से छोटे–छोटे पात्र न गुंथे हों क्योंकि इस आयुवर्ग के बच्चे बहुत सी घटनाओं या पात्रों पर एक साथ ध्यान नहीं केन्द्रित कर पाते। चित्रों में पुनरावृत्ति हो और कुछ इस तरह कि बच्चों के लिए अनुमान लगाकर पहले ही बताने की गुंजाइश रह सके। आगे की बात पहले ही जान लेना बच्चों को मानसिक संतोष से भर देता है। छोटे बच्चों को स्पष्ट चित्र भाते हैं। अमूर्त छवियां, टूटी रेखाएं, हाफ़टोन बच्चों को प्रायः आकर्षित नहीं कर पाते।

चित्रात्मक कथा पुस्तकें

स्व–केन्द्रित होना इस आयु की विशेषता है। उनके मन में कहानी की एक अपनी संरचना भी होती है। पुस्तक कोने में ऐसी कथा पुस्तकें शामिल की गईं हैं जहां बच्चे का दैनिक जीवन, उसके अपने मनोभाव, व परिवेश प्रतिबिम्बित होता हो। जहां एक ओर जानी पहचानी घटनाएं व छवियां हों, अपना परिवार, विद्यालय, दोस्त, पशु–पक्षी हों वहीं कुछ ऐसा भी हो जो उन्हें विस्मित कर सके। कथावस्तु में बच्चे की स्वतंत्र छवि उभरती हो, उसकी सोच और तर्क की पर्याप्त गुंजाइश हो। दोहरावाली कहानियां बच्चों को अच्छी लगती हैं। पूर्व घटनाओं की पुनरावृत्ति बच्चों को स्वयं अंदाज़ लगा पाने की ख़ुशी देती हैं। किताबों में वर्णित और चित्रित वस्तुओं की ध्वनियों का अनुमान लगाना भी खेल बन जाता है। चित्रों के साथ एक दो पक्तियों का पाठ्य हो, वह भी उलझाव भरा न हो जिससे बच्चे शब्दों को जोड़ सकें। शब्दों की पुनरावृत्ति हो। बच्चों की शब्दावली क्षेत्र, वातावरण के अनुसार अनेक स्तरों पर भिन्न हो सकती हैं। भाषा बनावटी न हो। घटनाओं की सहजता, लय और चित्रों में सजीवता ये कुछ मानदण्ड हो सकते हैं एक अच्छी कथा पुस्तक के।

पुस्तक चयन के लिए अपेक्षित है कि चयन में अनेक ऐसे व्यक्तियों को जोड़ा जाए जो बाल साहित्य के प्रति संवेदनशील हों। बाल साहित्य विशेषज्ञ, अध्यापक, चित्रकार साथ मिलकर प्रत्येक पुस्तक पर चर्चा करें और उसे भाषा, चित्रांकन, विषय वस्तु के प्रवाह, सरलता और रंजकता के आधार पर परखें।

जानकारीपरक पुस्तकें

पूर्व अनुभवों के साथ जिज्ञासा भी इस उम्र की स्वभावगत विशेषता होती है। जानकारी सहज हो भले ही बच्चे पूरी तरह न भी समझ पाएं उसके चित्र उन्हें और जानने को प्रेरित करेंगे। इस प्रकार की पुस्तकें उन्हें जिज्ञासु और उत्साही पाठक बनाने में मदद कर सकेंगी।

गतिविधि पुस्तकें

ऊर्जा और सक्रियता से भरपूर, कुछ बनाने, जोड़ने की ओर ले जानेवाली क्रियात्मक पुस्तकें बच्चों की रचनात्मकता को बढ़ावा दे सकेंगी।

कविता पुस्तकें

इस विधा से बच्चों का परिचय खेल गीतों, मां की गुनगुनी लोरियों के रूप में हो चुका होता है। बाल अनुभवों से जुड़कर, उनके साथ थिरक कर, उनके मन को महसूस कर लिखी गई छोटी कविताएं उन्हें आनन्दित करती हैं। कविताओं की लय उन्हें बार बार दोहराना खेल सा लगता है। ऐसी कविता पुस्तकें जो कल्पना के छोटे–छोटे द्वीपों को जोड़ने का प्रयास करें, कहीं हास्य तत्त्व तो कोई मज़ेदार छोटी सी घटना। इस तरह की कविताएं बच्चों के मन में अनजाने ही प्रवेश कर जाती हैं।

पुस्तकों के साथ

छपी सामग्री से समृद्ध माहौल बच्चों में पढ़ने की संस्कृति के विकास का आधार बन सकता है। अपने पुस्तक कोने की पुस्तकें बच्चे स्वयं पढ़ेंगे, उन पर बात करेंगे ऐसा विश्वास है। अध्यापिका इन पुस्तकों के माध्यम से अनेक भाषायी कौशलों का अनायास ही विकास कर सकेंगी, इसके लिए किसी विशेष आयोजन की भी ज़रूरत नहीं है, बस अध्यापक भी इन्हें पढ़ें, बच्चों को पढ़ने दें।

छपी सामग्री से समृद्ध माहौल बच्चों में पढ़ने की संस्कृति के विकास का आधार बन सकता है। अपने पुस्तक कोने की पुस्तकें बच्चे स्वयं पढ़ेंगे, उन पर बात करेंगे ऐसा विश्वास है।

- पढ़ने के बाद बच्चे प्रश्न, परीक्षा से मुक्त रहें।
- पुस्तक के चित्रों पर बात करें, बच्चों को बात करने के लिए प्रोत्साहित करें। बात इस तरह जारी रखें जहां बच्चे अनुमान लगाएं, अपने अनुभव जोड़ें।
- बच्चों को निस्संकोच, निर्भय अपनी बात कहने का पूरा अवसर हो, माहौल हो। व अध्यापिका भी कहानी पढ़कर सुनाएं हाव–भाव,उतार –चढ़ाव के साथ।
- पुस्तक में आए शब्दों के अलावा कुछ और शब्द भी चुन लें जिनका बातचीत के दौरान बार–बार प्रयोग करें।
- पढ़कर समझने को सुदृढ़ करने के लिए बच्चों को उसी कहानी को पुनः अपने शब्दों में बताने को कहा जा सकता है। अभिनय करवाया जा सकता है।
- पुस्तक में दिखाई गई वस्तुओं में से यदि कोई वस्तु कक्षा में लाई जा सके तो वह बच्चों के लिए एक रोमांचक अनुभव व खेल बन सकता है। बच्चों में चिन्तन और कल्पना को बढ़ावा देने का अच्छा माध्यम भी।
- कहानी बार–बार पढ़कर सुनाएं। बच्चे पुनरावृत्ति से ऊबते नहीं हैं।
- चित्रों को ग़ौर से देखने दें, चित्रों के पात्रों के चित्र बनाएं, कठपुतली खेल खेलें।
- इन पुस्तकों को पढ़कर सुनाने और बच्चों को पढ़ने देने के, चित्र देखने के अवसर को दैनिकचर्या का अंग बनाएं।
- किताब पढ़कर सुनाते समय उसका सामान्य परिचय देते हुए मुखपृष्ठ दिखाएं, लेखक व चित्रकार का नाम लें।
- पुस्तक पढ़ते समय बच्चा कहानी के पात्रों से अपने आप को लगातार जोड़ता है। बच्चों के चिन्तन को बढ़ावा देने के लिए कहानी के पात्रों के साथ स्वयं को जोड़कर कुछ घटनाएं बताने को कहें।

बच्चों के लिए पुस्तकें चुनते समय लगातार बचपन की दुनिया में लौटना होता है। यह प्रक्रिया इतनी आसान नहीं है, संवेदनशील हो कर सोचना ज़रूरी है।

(एनसीईआरटी की वेबसाइट ncert.nic.in से साभार)

किताब पढ़ने की आदत

कृष्ण कुमार

हर स्कूल में पुस्तकालय हो, इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है? पर ऐसा भी हो जाए तो यह ज़रूरी नहीं कि भारी संख्या में बच्चे बहुत सारी किताबें पढ़ने लगेंगे। पुस्तकालय की व्यवस्था एक आर्थिक सवाल है, बच्चों में किताबें पढ़ने की आदत का होना एक शैक्षिक सवाल है, पर इनका समुचित उपयोग नहीं हो पाता। जिन बच्चों में किताब पढ़ने की आदत पहले से ही है, यानी घरेलू वातावरण ने पैदा की है, वे स्कूल के पुस्तकालय का उपयोग करते हैं। ये बच्चे नौकरीपेशा मध्यमवर्ग से आते हैं जिसमें माता–पिता घर पर बाल साहित्य तथा अन्य किताबें रखने ज़रूरत समझते हैं। मज़दूरी करनेवाले मां–बाप के बच्चे घर पर किताबों से वंचित रहते हैं। बाल साहित्य इतना महंगा है कि उसे बग़ैर पैसा बचाए यानी बग़ैर योजनाबद्ध तरीक़े से तैयारी किए ख़रीदा नहीं जा सकता। यह क्षमता समय मांगती है जो कारख़ानों में काम करनेवाले माता–पिता नहीं दे सकते।

यह स्थिति स्वीडन की है जहां साक्षरता लगभग शत–प्रतिशत और स्कूली शिक्षा अनिवार्य है। लगभग चालीस वर्ष की अवधि में अपने राज के दौरान स्वीडन की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने शिक्षा के ज़रिए मध्यमवर्गीय और मज़दूर परिवारों के बच्चों को उपलब्ध अवसरों में बराबरी लाने की कोशिश की। फ़िलहाल स्थिति यह है कि ऐसे बच्चों की संख्या बहुत अधिक नहीं है जो महज़ शिक्षा के ज़रिए मध्यमवर्गीय नौकरियों में जा रहे हो। और ऐसे बच्चे और भी कम हैं जो रुचि के कारण मध्यमवर्गीय नौकरी की जगह मज़दूरी अपना रहे हों।

पुस्तकालय के इस्तेमाल में जो सामान्य बाधाएं हैं उनमें से कुछ भारतीय परिस्थितियों में भी समझी जा सकती हैं, यद्यपि हमारी परिस्थितियां अत्यन्त भिन्न हैं और हमारी शिक्षा व्यवस्था की मौजूदा दिशा समता नहीं विषमता की ओर है। एक मुद्दा यह है कि स्कूल की हर कक्षा को दिन में कम से कम एक बार पुस्तकालय का प्रयोग करने का समय किस प्रकार मुहैया करवाया जाए।

जो भी हो, स्वीडन ने समतामुखी शिक्षा देने की एक चेष्टा की है। स्कूली पुस्तकालय इसी चेष्टा का एक हिस्सा है।

पुस्तकालय के इस्तेमाल में जो सामान्य बाधाएं हैं उनमें से कुछ भारतीय परिस्थितियों में भी समझी जा सकती हैं, यद्यपि हमारी परिस्थितियां अत्यन्त भिन्न हैं और हमारी शिक्षा व्यवस्था की मौजूदा दिशा समता नहीं विषमता की ओर है। एक मुद्दा यह है कि स्कूल की हर कक्षा को दिन में कम से कम एक बार पुस्तकालय का प्रयोग करने का समय किस प्रकार मुहैया करवाया जाए। यह बाधा वास्तव में प्रबन्ध की है। पुस्तकालय के इस्तेमाल में एक मनोवैज्ञानिक बाधा एक अध्यापिका ने मुझे बताई कि किताबों की बहुत बड़ी संख्या देखकर बच्चे घबरा जाते हैं। अपनी रुचि की किताब वे किस कोने में तलाशें, यह नहीं सोच पाते। यदि अध्यापक पुस्तकों का चुनाव करें तो पुस्तकालय का यह उद्देश्य पूरा नहीं होता कि बच्चे स्वयं अपनी पसन्द की किताब ढूंढ़ सकें।

करीब पांच वर्ष पूर्व गौतेनबर्ग (स्वीडन) में बच्चों की सम्प्रेषण क्षमताएं बढ़ाने के उद्देश्य से एक कार्यक्रम आरम्भ हुआ जिसका एक हिस्सा कक्षा में बाल साहित्य का इस्तेमाल था। जिन स्कूलों में यह कार्यक्रम चला, उनमें से कुछ के अध्यापकों से मिलकर मुझे लगा कि एक उपयोगी कार्यक्रम रहा होगा,

हालांकि उसके अंतिम परिणाम क्या हुए यह तो उन बच्चों से मिलकर ही जाना जा सकता है जो कार्यक्रम में शरीक थे। बाल साहित्य के इस्तेमाल की योजना के अन्तर्गत कक्षा के अंदर एक खुले रैक पर तीस–चालीस पुस्तकें रखी गई। इनमें से ज़्यादातर स्वीडी बाल साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियां थीं, सप्ताह में क़रीब तीन घण्टियां (प्रत्येक घण्टी चालीस मिनट की) इन किताबों की पढ़ाई के लिए नियत की गईं। पढ़ाई का उद्देश्य मुख्यतः मनोरंजन था, और कोई परीक्षा इस पढ़ाई की नहीं ली गई। हां, जब–जब पढ़ी गई किताबों पर चर्चा अवश्य हुई।

एक अध्यापिका ने मुझे बताया कि इस कार्यक्रम से कई बच्चों में एक पूरी किताब पढ़ने का डर दूर हुआ। शिक्षा ने दिया है।

दिक़्क़त पाठ्यपुस्तक नहीं है, बल्कि पाठ्यपुस्तक के अध्यायों का टुकड़ों में अध्ययन है, और दरअसल दिक़्क़त यह अध्ययन भी नहीं है बल्कि इस अध्ययन पर सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया का निर्भर हो जाना है। इस दिक़्क़त से मुक्ति अनिवार्य है। फ़िलहाल यह मुक्ति केवल हमारे केन्द्रीय स्कूलों तथा पब्लिक स्कूलों में एक हद तक मिलती है। इन स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चों को घर पर और स्कूल में भी एक सम्पूर्ण और विविध जीवन जीने को मिलता है।

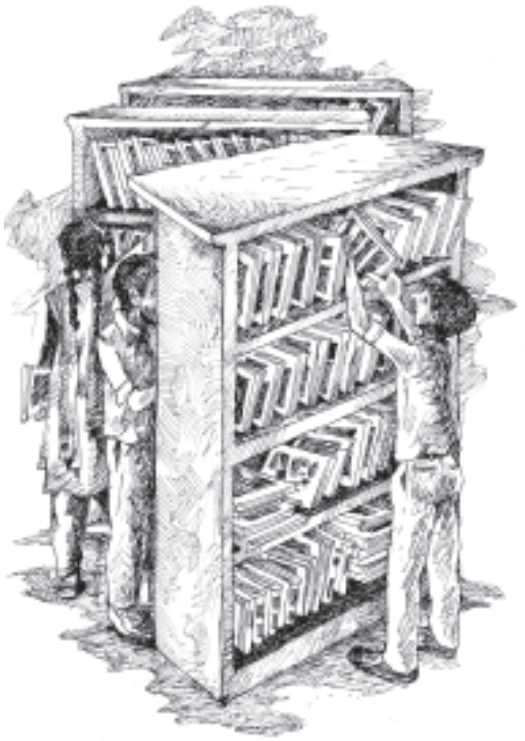

ज़िम्मा अध्यापक को उठाना होगा। किताबों के चयन का काम भी आसान नहीं होगा क्योंकि हिन्दी बाल साहित्य

समस्या देश के सामान्य स्कूलों की है जहां साधनों का अभाव रहता है और कमज़ोर घरेलू स्थितिवाले बच्चे पढ़ते हैं। इन स्कूलों में पुस्तकालय दुर्लभ हैं। कक्षा के भीतर कुछ किताबें रखकर सम्भवतः एक कोशिश की जा सकती है।

स्कूली पाठ्यपुस्तकें कभी आद्योपान्त नहीं पढ़ी जातीं। भारत जैसे देश में जहां पाठ्यपुस्तक ही पाठ्यक्रम होती है, एक पूरी किताब पढ़ने का डर बहुत सामान्य बात है। मैं स्वयं पूरी किताब पढ़ने से डरता हूं और सोचता रह जाता हूं कि क्या यह डर मुझे पाठ्यपुस्तकों पर टिकी समस्या देश के सामान्य स्कूलों की है जहां साधनों का अभाव रहता है और कमज़ोर घरेलू स्थिति वाले बच्चे पढ़ते हैं। इन स्कूलों में पुस्तकालय दुर्लभ हैं। कक्षा के भीतर कुछ किताबें रखकर सम्भवतः एक कोशिश की जा सकती है। निश्चित ही, इनकी देखरेख का में पिछले कई वर्षों से कल्पनाशील साहित्य की कमी और पाठ्यपुस्तकीय साहित्य की बढ़ोत्तरी होती रही है। बाल साहित्य कक्षा में लाने पर भी यदि पाठ्यपुस्तकीय अनुभव ही हम बच्चों को देंगे तो ऐसे क़दम की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं है।

एकलव्य द्वारा प्रकाशित **''दीवार का इस्तेमाल और अन्य लेख''** लेखक – **कृष्ण कुमार** से साभार

पढ़ना कला है कर्मकांड नहीं

रमेश दवे

पुस्तक संस्कृति सारी दुनिया में है। ऐसा कोई देश नहीं है, जहां बच्चों, किशारों, युवाओं और प्रौढ़ों या बुज़ुर्गों के लिए तरह–तरह की किताबें न हों। मगर सवाल है कि क्या हम सचमुच किताब पढ़ना जानते हैं? क्या किताब केवल ज्ञान के लिए है, सूचना या जानकारी के लिए है, पाठ्यपुस्तक के रूप में परीक्षाओं के लिए या फिर आनंद और खेल के लिए भी है? क्या स्कूल–कॉलेजों में किताब पढ़ने का कोई तरीक़ा, सलीक़ा या कोई खेल ऐसा सिखाया–बताया जाता है कि देश में किताब–पढ़ने वाला एक बौद्धिक और पढ़ाकू समाज पैदा हो?

किताबों के साथ यह कितना बड़ा मज़ाक है और बच्चों के साथ कुछ संस्थाओं में केवल धार्मिक, यहां तक कि सांप्रदायिक क़िस्म की ऐसी किताबें पढ़ने को मजबूर किया जाता है, जिन्हें पढ़कर वे केवल हिंसक और संकीर्ण व्यक्ति बन सकते हैं। मध्यप्रदेश में एक बार जनरुचि और छात्ररुचि का जायज़ा लेने के लिए 'पढ़ना–बढ़ना आंदोलन' की किताबों के प्रभाव की दृष्टि से कुछ प्रकाशकों और लेखकों ने मिलकर गांवों का दौरा किया था। वहां जो किताबें भेजी गई थी, वे क़रीने से संदूकों में बंद थी, या कई जगह किसी मकान या स्कूल के कोने में ढेरियों के रूप में पड़ी थी।

जब ग्रामीणों से पूछा गया कि वे कैसी किताबें चाहते हैं, तो उनका कहना था कि धार्मिक या स्वास्थ्य संबंधी। जब किशारों और बच्चों से पूछा गया तो उनका कहना था कि

दरअसल, पढ़ना मात्र किताबी कौशल न होकर एक तहज़ीब और तरक़ीब भी है। पढ़ना सिखाना वास्तव में सिखाना नहीं ख़ुद पढ़ना और पढ़वाना हैं जब आपके सामने कोई अच्छी किताब होती है तो वह ख़ुद आपको पढ़े जाने के लिए बुलाती है। बच्चों के लिए ऐसी बुलानेवाली किताबें हमारे देश में कम हैं।

ऐसी किताबें, जिनको पढ़कर मज़ा आए। बच्चों को यह मज़ा आए। बच्चों को यह मज़ा आना ही तो किताब पढ़ना है। क्या हम जो किताबें उनको 'सर्व शिक्षा अभियान' या ग्रंथालयों की थोक ख़रीदी में दे रहे हैं, वे मज़ा देने लायक हैं।

सवाल है कि क्या इस देश में प्रशासक, नेता, मंत्री शिक्षक और अभिभावक अपने बच्चों की रुचि और उन्हें अच्छा पाठक बनाने के प्रति गंभीर हैं? क्या वे बच्चों में केवल परीक्षा–ज्ञान के किताबी टीके लगाने की कोशिश कर रहे हैं या कि उनके बचपन, उनकी ख़ुशी, उनके हंसने–रोने, खेलने–खाने सबके लिए उन्हें मौक़ा दे रहे हैं। ताकि वे किताब पढ़कर और किताबों की मांग करें, अपनी रुचि की किताबों के लिए आकर्षित हों, ख़ुद अपने घरों में अपनी बाल, किशोर, युवा या घरेलू लाइब्रेरी रचने और पढ़ने का यह संस्कार स्वयं विकसित करें जो किसी स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय या ग्रंथालय में नहीं दिया जाता? पढ़ना भले ही एक भाषायी कौशल मान लिया गया हो, मगर पढ़कर स्वयं को समृद्ध करना, अपनी ख़ुशी, अपने गम, अपने शौक़ या रुचि आदि समझना आना चाहिए न कि केवल परीक्षा देना।

दरअसल, पढ़ना मात्र किताबी कौशल न होकर एक तहज़ीब और तरक़ीब भी है। पढ़ना सिखाना वास्तव में सिखाना नहीं ख़ुद पढ़ना और पढ़वाना हैं जब आपके सामने कोई अच्छी किताब होती है तो वह ख़ुद आपको पढ़े जाने के लिए बुलाती है। बच्चों के लिए ऐसी बुलानेवाली किताबें हमारे देश में कम हैं। जब से सर्व शिक्षा अभियान और प्रौढ़ शिक्षा में बीस–तीस रुपए की किताबों की थोक ख़रीदी होने लगी, किताब एक प्रकार से दफ़्तरों की मंडी में सब्ज़ी भाजी की तरह हो गई है। कोई देश अपने बच्चों को धोखा नहीं देता, उनकी प्लेट में रखा भोजन छीन कर नहीं खाता। यह तो मिड डे मील बच्चे कम, उसे बनानेवाले ज़्यादा खा जाते हैं। यहां किताबें खाने का तो इतना बड़ा शौक़ है कि किताब ख़रीदनेवाले अधिकारी पच्चीस–तीस प्रतिशत कमीशन पर प्रकाशकों द्वारा ख़रीद लिए जाते हैं। जिस देश के नीति निर्माता, नेता और अधिकारी अपने बच्चों के ज्ञान, आनंद रुचि और खेलों से ही बेईमानी करें, वहां अगर हर जगह भ्रष्टाचार ही भ्रष्टाचार दिखाई दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या? अगर बच्चों की किताबों से ख़ुशबू और रंग छलकने के बजाए बदबू और बेईमानी छलके तो इस देश के बच्चे बड़े होकर बेईमानी की किताब पढ़कर ईमानदार नागरिक कैसे बनेंगे?

हर स्तर की पाठ्यपुस्तक पढ़ने का बोझ है, वह एक प्रकार का तनाव है, उससे ज्ञान पाना या सीखना भी तनाव है, इसलिए पाठ्यपुस्तक कभी रुचि या आनंद की किताबें नहीं बनी। इसके लिए ज़रूरी है कि पाठ्यपुस्तकों के साथ परीक्षा और पाठ्यक्रम से मुक्त कुछ किताबें हों। ख़ासकर बच्चों के लिए अगर शुरू से ही ऐसी किताबें रची जाएं, तो बच्चे अपने आप पढ़ने लगेंगे। कई देशों में बच्चों की कक्षाओं में उनके बैठने की जगह पर दोनों हाथों की तरफ़ तरह–तरह की आकर्षक किताबें रख दी जाती हैं। बच्चे जब चाहें, वे किताबें उठाते हैं, देखते हैं और अपने आप पढ़ने लग जाते हैं। हम अपनी आर्थिक हालत का रोना रोकर ऐसा कोई काम नहीं करते। हमारे पास अपराधियों के लिए जेल बनाने, पुलिस, सेना के बैरक बनाने, पशुओं के लिए कांजी–हाउस बनाने, जंगल और अभयारण्य बनाने के लिए पैसे हैं, मगर बच्चों के लिए हर कक्षा में कमरा और किताब देने के पैसा नहीं है और अगर कुछ भाग में इनके लिए पैसा है तो भी राजीव गांधी के शब्दों में नब्बे फ़ीसद खाने के लिए और सिर्फ़ दस फ़ीसद इन कामों के लिए।

अगर प्राथमिक स्तर से ही बच्चों को अच्छी, रोचक, मज़ेदार, बड़े अक्षरों और रंग–बिरंगे चित्रों के साथ छपी हुई किताबें दी जाएं और वे बारह–सोलह पृष्ठों की हों तो बच्चे

उन्हें तुरंत उठाकर पढ़ेंगे। अगर बैठक–व्यवस्था को बदलकर केवल पढ़ने के लिए समूह बना दिए जाएं तो बच्चे केवल अपने आप किताबें चुनकर पढ़ेंगे, बल्कि उन पर बातचीत करेंगे, सवाल करेंगे, क्या अच्छा लगा, क्या ख़राब, इस बात की समीक्षा अपने ही सहज भाव से करेंगे और आगे जाकर अपनी रुचि कि किताबों की मांग भी करेंगे। पढ़ना सिखाया नहीं जाता, बल्कि पढ़ने के लिए उकसाया जाता है। ऐसी उकसानेवाली सामग्री हमें बनानी होगी। कई शिक्षक–प्रशिक्षण बोल कर पढ़ने या आदर्श वाचन पर पाबंदी लगाते हैं, बच्चा जिस तरह से पढ़ना चाहे पहले उसे पढ़ने का मौक़ा देना चाहिए। बोलकर पढ़ने से बच्चे के हाव–भाव, उसकी ख़ुशी, ग़म सब देखे और पहचाने जा सकते हैं और वह जब चर्चा अपने साथियों के बीच करता है तो बच्चे के उस मनोविज्ञान का पता लगाया जा सकता है कि वह पढ़कर तैयारी करता है?

मगर हमारी प्रशासनिक प्रणाली तो केवल पाठ्यपुस्तक से शुरू होती है और परीक्षा परिणाम पर ख़त्म होकर शिक्षक को दंड या पुरस्कार देकर पढ़ने की इतिश्री कर देती है। ऐसे में बच्चे साहित्य कैसे पढ़ेंगे, बाल–साहित्य कैसे पढेंगे, पढ़ने को अपना मनोरंजन और खेल कैसे बनाएंगे, पाठ के अंदर से भाषा और शब्दों के खेल कैसे पैदा करेंगे?

भारत, पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश आदि ऐसे देश हैं, जहां शिक्षा के नाम पर हमेशा धन का मातम मनाया जाता है। हम अपने संसाधनों का सही इस्तेमाल नहीं करते। निकारागुआ ने जब साक्षरता अभियान चलाया था तो माचिस और खाने–पीने के पैकेटों पर पढ़ने की इतनी अच्छी सामग्री डाल दी थी कि बच्चे रैपर उठाकर पढ़ने लगते थे। हम ऐसा क्यों नहीं कर सकते हैं। अगर हम फास्ट फूड के आकर्षक पैकेट बनाते हैं, तो उन पर बच्चों के लिए दो–चार पंक्ति की कविता, छोटी सी पशु–पक्षी, राजा–रानी, भूत–प्रेत, जंगल, नदी पहाड़ और ताज्जुबभरी कहानी क्यों नहीं दे सकते? हम छोटे–छोटे पोस्टरों पर बच्चों के लिए पढ़ने की सामग्री क्यों नहीं छाप सकते? कई किशोर और युवा अपने पसंदीदा हीरो–हिरोइन, खिलाड़ी आदि के बड़े पोस्टर अपने कमरे में लगा लेते हैं। उन पर वह इतना महशूर कैसे हुई या हुआ, इसकी एक पूरी कहानी हम नहीं दे सकते? अगर बच्चे हनुमान, घटोत्कच, गणेश आदि की बाल फिल्में एनीमेशन में देखकर उन पर लट्टू हैं, तो क्या ऐसी ही कथाएं बच्चों के सामने रखकर हम उन्हें लुभा नहीं सकते?

कई शिक्षक–प्रशिक्षण बोल कर पढ़ने या आदर्श वाचन पर पाबंदी लगाते हैं, बच्चा जिस तरह से पढ़ना चाहे पहले उसे पढ़ने का मौक़ा देना चाहिए। बोलकर पढ़ने से बच्चे के हाव–भाव, उसकी ख़ुशी, ग़म सब देखे और पहचाने जा सकते हैं और वह जब चर्चा अपने साथियों के बीच करता है तो बच्चे के उस मनोविज्ञान का पता लगाया जा सकता है कि वह पढ़ कर तैयारी करता है?

बच्चे जो भी पढ़ते हैं, बड़ी गति से पढ़ते हैं। वे चाहें खेलें, कूदें, काम करें या घर में ही चलें, गति में हर काम करना चाहते हैं। उनकी गति से हम चल नहीं पाते इसलिए गति वाले बच्चों की किताबें गतिहीन, शिथिल और उबाऊ होती हैं। बच्चे के सीखने और पढ़ने की गति से हमें चलना होगा न कि हमारी गति से बच्चे चलें। किताबें केवल कक्षाई कर्मकांड नहीं हैं। वे अगर ज्ञान का भंडार हैं तो खेल का मैदान भी हैं। बच्चों के खिलौने, उनकी कलाएं और उनका आनंद भी। इसलिए ज़रूरी है कि किताबें आनंद रचें, आतंक नहीं, ख़ुशी और ख़ुशबू रचें, बदबू और बेईमानी नहीं, प्यार रचें, नफ़रत नहीं, रुचि रचें, ऊब नहीं, सोचना और करना सिखाएं, रोना या हिंसा करना नहीं। जब सारी दुनिया के बच्चे उनकी शिक्षा, उनके शिक्षक, उनके माता पिता, नेता और नीतिकार किताबों से प्रेम करना सीख जाएंगे, तो किताबें ऐसा देश रचेंगी जो किताबों का देश होगा।

रमेश दवे : म.प्र. एससीईआरटी से सेवानिवृत्त, वर्तमान में शिक्षा पर लेखन में रत।
यह लेख **जनसत्ता,** (दिनांक 5 अक्टूबर, 2008) से सभार।

पुस्तकालय के मायने

हृदय कांत दीवान

जब मैं स्कूल में पढ़ता था तो घर में कई तरह की किताबें, पत्रिकाएं व अख़बार आते रहते थे। घर में हम सभी पुस्तकें पढ़ते थे। मुझे याद नहीं कि जब मैं बहुत छोटा था तो मेरे स्कूल में पुस्तकालय था या नहीं। किन्तु पांचवीं कक्षा में व उसके बाद मैं जिस–जिस स्कूल में गया वहां पुस्तकालय था। यह ज़रूर है कि इनमें से प्रत्येक में वैसा प्रयास नहीं था जैसा कि मेरी पांचवींवाले स्कूल में था। इस स्कूल में हम सब लोगों को पुस्तकालय जाना होता था। पुस्तकालय से हम पुस्तक ले जा भी सकते थे और वहां बैठकर पढ़ भी सकते थे। अलमारियां खुली रहती थीं, हम चाहे जो किताब ले सकते थे। कोई बन्धन नहीं, कोई ताला नहीं। मुझे मालूम नहीं कि क्या पुस्तकालय व पुस्तकों को इससे नुकसान होता था अथवा नहीं, लेकिन मुझे बहुत फ़ायदा हुआ। मेरे दोस्तों, मेरी कक्षा के बच्चों व अन्य जिन्हें मैं जानता था उनमें से किसी ने भी कभी पुस्तक फाड़ने या कोई सुन्दर चित्र काटने का प्रयास नहीं किया। पुस्तक ले जाने का प्रयास शायद कभी किसी ने किया था, ऐसा हमने उड़ते–उड़ते सुना। किन्तु वह मसला हल हो गया और किसी आलमारी पर ताला नहीं लगा। हम सब को कभी पता नहीं लगा कि वह कौन था और कौन–सी पुस्तक ले जाने का प्रयास कर रहा था। हमारे लिए तो लाइब्रेरी में सब कुछ वैसा ही था। हो सकता है, सतर्कता बढ़ा दी गई हो। किन्तु हमें ऐसा दिखता नहीं था।

यह कहानी मैं क्यों सुना रहा हूं? यह इसलिए सुना रहा हूं कि लाइब्रेरी से जो जुड़ाव हमारा उस समय बना, उसने मेरे साथियों और मुझमें किताबों का रस डाल दिया। पुस्तकें ढूंढ़ने, संभालने व इस्तेमाल करने की तैयारी करवा दी और उन्हें उलट–पलट कर देखने की हिम्मत दे दी। यह इसलिए ज़रूरी था क्योंकि अपने–आप पढ़ने के लिए, स्वतंत्र रूप से सीखने के लिए पुस्तकों को खंगालपाना आवश्यक है। स्कूल हमें ज्ञान को स्वयं खंगालने व उसके आधार पर आगे सीखते रहने के लिए तैयार कर सकता है। ज्ञान खंगालने के अलावा एक और बात मैं रखना चाहूंगा। उस उम्र में मुझे कहानी का बहुत शौक़ था। शायद सभी बच्चों को यह शौक होता है। पुस्तकालय होने से मैंने अलग–अलग तरह की कहानियां पढ़ीं और धीरे–धीरे संपूर्ण पुस्तक जिसमें मात्र एक ही कहानी को भी पढ़ने लगा था। मुझे इसमें बहुत मज़ा आता था। पुस्तक हिन्दी की हो या अंग्रेज़ी की, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था। क्योंकि मैंने दोनों तरह की पुस्तकें पढ़ना सीख लिया था। फिर गर्मियों की छुट्टियों में पुस्तकालय ढूंढ़ना और ढूंढ़कर उस पर आक्रमण करना एक महत्त्वपूर्ण व रोचक कार्य होता था। एक तरह की पुस्तकें ख़त्म होने पर दूसरी पुस्तकों तक पहुंचना और बच्चों के साथ उन पर चर्चा करके नए लेखकों, नई तरह की पुस्तकें पहचानना, यह सब करना होता था। कब छुट्टियां निकल गईं पता नहीं लगता था। और यह भी याद नहीं रहता था कि कितनी पुस्तकें पढ़ डालीं।

लाइब्रेरी की पुस्तक पढ़ना और दस कहानियों को पढ़ना, पाठ्यपुस्तक पढ़ने से बहुत अलग होता था। कक्षा दस और ग्यारह में जब हम विषयों के बारे में पुस्तकें ढूंढ़ते थे और अलग–अलग पुस्तकालयों में जाते थे तो भी वह कार्य स्कूल द्वारा निर्धारित पुस्तक पढ़ने से बहुत अलग होता था। स्वयं पढ़ने में स्वतंत्रता का अहसास था। हर व्यक्ति अपनी तरह से पुस्तक पढ़ सकता था। उसे पुस्तक का कौन–सा हिस्सा पढ़ना है और कौन–सा बिल्कुल नहीं, कौन–सा सरसरी तौर पर आदि सभी बातें सोचने की ज़रूरत नहीं

होती थी। जब जैसा चाहा, जितना चाहा पढ़ लिया। सिर्फ़ वही नहीं पढ़ा जो पाठ्यक्रम में निर्धारित है, और भी कुछ पढ़ा, कुछ और चीज़ें जानीं। यह सब करने में मज़ा आता था क्योंकि यह पता था कि कोई यह नहीं पूछेगा कि किसी अध्याय में सोहन ने कौन से रंग की पतलून पहनी हुई थी, या फिर सोहन को जो टैक्सी ड्राइवर मिला उसका क्या नाम था? आदि ....। जब डर ही नहीं था कि कोई यह पूछ लेगा कि तुमने इस कहानी में क्या सीखा। यह तो सही है कि हर कहानी में कुछ न कुछ ज़रूर सीखते हैं। किन्तु यह ज़रूरी नहीं कि सब एक कहानी से एक ही बात सीखें। मैं अपने लिए कोई निहितार्थ बताऊंगा और आप अपने लिए। मुझे कुछ और पसंद होगा आपको कुछ और। और इसके लिए कारण भी अलग–अलग होंगे।

कुल मिलाकर पुस्तकालय आपको पढ़ने की, जानने की, सोचने की, अपना मत बनाने की स्वतंत्रता देता है। वह आपको, आपके दायरे की सीमा व अन्य बन्धनों से मुक्त होने का रास्ता दिखाता है। वह आपकी पढ़ने में रुचि बढ़ाता है। आपको अन्य लोगों के अनुभव व समझ को समझने और उसकी समालोचना करने का मौक़ा देता है। यदि पुस्तकालय यह सब करने की गुंजाइश देता है तो फिर हर स्कूल में और हर कक्षा के बच्चे को पुस्तकालय उपलब्ध होना क्यों अनिवार्य नहीं होना चाहिए। क्या ऐसा हो सकता है कि पुस्तकों तक बच्चे सहज रूप से पहुंच सकें और वे भी ऐसी पुस्तकें जो सुन्दर व मज़ेदार हों? इसकी राह में क्या बाधाएं हैं? इनसे कैसे निजात पा सकते हैं?

यह शायद आज से 25 साल से ज़्यादा पहले की बात है जब हर उच्च प्राथमिक स्कूल के बच्चों के लिए किताबों का एक सेट उपलब्ध करवाया गया था। यह सेट छांटकर, चुनकर ली गई किताबों का था। बहुत से स्कूलों में ये सेट देर–सबेर पहुंच भी गए। किन्तु इनका उपयोग कहीं नहीं हुआ। कुछ प्रधान शिक्षकों ने उन्हें घर रख लिया। कुछ ने इन्हें आलमारी में दबाकर रख दिया ताकि बच्चे किताबें फाड़ न दें। तो कुछ ने इन्हें अलमारी में सजा दिया। ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिला जिसमें बच्चों को इनका उपयोग करने का खुलकर मौक़ा मिला हो। उन्हें शायद यह तो मंज़ूर था कि पड़े–पड़े इन्हें दीमक खा जाए किन्तु यह नहीं कि वे बच्चों के हाथ पहुंच जाए और उनसे वे फटे। मुझे लगता है इसमें कहीं न कहीं यह भी भावना रही होगी कि बच्चे पाठ्यपुस्तक तो पढ़ते नहीं और वे यह किताबें क्या पढ़ेंगे। या फिर यह भी किताबों से इनका क्या लेना–देना, इन्हें कौन–सा आगे चलकर ज्ञानी बनना है। एक महत्त्वपूर्ण पहलू जो इस सब के पीछे है, वह है हमारा किताबों से क्या रिश्ता है? और हम अपना और अन्य का किस प्रकार का रिश्ता चाहते हैं? मुझे लगता है कि यह प्रश्न पुस्तकालयों के होने, बने रहने व उनके उपयोग को सबसे अधिक प्रभावित करता है।

मेरे विचार से स्कूल में बच्चों तक पुस्तकें पहुंचने में बहुत बाधाएं हैं। पहली बाधा है कि इसका पैसा कहां से आएगा। दूसरी, यह पहुंचेगी कैसे, तीसरी, इनको रखा कहां जाएगा, चौथी, इनको बच्चों को कब देंगे, पांचवी, इन्हें संभालेंगे कैसे? कौन करेगा यह सब? बच्चे क्या इन्हें पढ़ पाएंगे? आदि प्रमुख बाधाएं है।

इन सब बाधाओं के पीछे असली बाधा तो यह है कि हमारी पुस्तकालय के बारे में एक सामूहिक समझ नहीं है कि पुस्तकालय के क्या–क्या लाभ हो सकते हैं और कैसे वे शिक्षण के कार्य को नए मायने दे सकते हैं और वास्तव में उसे सरल बना सकते हैं। यह सोचना कठिन नहीं है कि स्कूल में पुस्तकालय का हम किस–किस तरह से उपयोग कर सकते हैं और इसका उपयोग बच्चों के विकास व सीखने के लिए क्यों आवश्यक है? इस पर ढेरों विचार हैं और अनुभव है। किन्तु इस प्रश्न पर व्यापक फोरम पर शिक्षकों के साथ व पालकों के साथ चर्चा करने की आवश्यकता है। फिर पुस्तकालय उपलब्ध करवाने और उसके सटीक व निर्धारित उपयोग और खुले उपयोग दोनों के बारे में सोचने व साझा समझ बनाने की ज़रूरत है। यह समझ बनने के बाद आगे के द्वार स्वयं खुल जाएंगे।

हृदय कांत दीवान : विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में शैक्षिक सलाहकार हैं।

कक्षा में दीगर किताबें

शहनाज़ डी.के.

विद्या भवन द्वारा बच्चों तक पुस्तकें पहुंचाने का जो कार्य किया जा रहा है उसी क्रम में मैं अपनी कक्षा में चल रही क्लास लाइब्रेरी के संबंध में आपको बताना चाहती हूं।

विद्या भवन बुनियादी माध्यमिक विद्यालय, रामगिरि, गांव में उदयपुर शहर से 7 किलोमीटर दूर स्थित है। हमारे विद्यालय में इस समय 411 विद्यार्थी कक्षा 1 से 10 तक अध्ययन कर रहे हैं। इनमें कुल आस–पास के 8 गांव से विद्यार्थी आते हैं। यह विद्यालय सन् 1941 से गांधी की बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों पर चलाया जा रहा है। यहां प्रारम्भ से बच्चे कताई, बुनाई, खेती आदि उद्योग सीखते थे। परन्तु अब विद्यालय में सुथारी, सिलाई, खाद्य प्रसंस्करण, घरेलू विद्युत मरम्मत, हस्तनिर्मित काग़ज़ आदि उद्योग सीख रहे है। प्राथमिक कक्षाओं में (कक्षा 3 से 5) हुनर सीखने की शुरुआत और आगे की तैयारी के लिए सुथारी, सिलाई के अलावा बाग़वानी और मिट्टी के खिलौने बनाने का काम भी करते हैं। इस तरह बुनियादी विद्यालय में जो शिक्षा दी जा रही है उसमें काम को तवज्जोह दिया जाता रहा है। और काम से ज्ञान का निर्माण कैसे हो इसके भरसक प्रयत्न किए जाते हैं।

मैं पिछले तीन वर्षों (2005) से अपनी कक्षा तीसरी और चौथी के बच्चों को दीगर किताबें देने का कार्य कर रही हूं। मैं इस संदर्भ में सबसे पहले अपने स्कूल में आनेवाले बच्चों के बारे में बताना चाहती हूं।

इस विद्यालय में आस–पास के गांव से आनेवाले अधिकांश बच्चे सुथार, राणा, डांगी, पंवार, सेन, गमेती, मेघवाल आदि जाति के हैं जिनकी स्थिति निम्न–मध्यम वर्गीय परिवार की हैं। इनमें से अधिकतर बच्चों के

माता–पिता खेती, दूध बेचने का, ड्राइविंग और मज़दूरी जैसे व्यवसायों से जुड़े है। इसलिए कई बच्चों की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही उनके लिए मुश्किल होता है। ऐसी स्थिति में कोई अन्य ख़र्च नहीं उठा पाते हैं। इनके घर पाठ्यपुस्तकों के अलावा किसी और पुस्तक के होने की कोई संभावना नहीं होती और न ही उनके माता–पिता इसकी आवश्यकता समझते हैं।

माता–पिता का शैक्षिक स्तर भी 8 वीं से 12 वीं तक का है। इस कारण वे पढ़ाई में पुस्तकालय के महत्त्व को भी बेहतर तरीक़े से नहीं जान पाते। उनके लिए पाठ्यपुस्तकें पढ़कर अच्छे अंक लाना ही बच्चों का काम है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य पुस्तक की आवश्यकता बच्चों को नहीं है, वे ऐसा सोचते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी भाषा की समझ नहीं बन पाती और उनसे पाठ्यपुस्तकों को पढ़कर समझने की उम्मीद नहीं की जा सकती।

कक्षा में बच्चों की पढ़ने और समझने की समस्या को लेकर बहुत परेशानी होती है। वर्ष 2005 में चौथी कक्षा के साथ काम करत हुए मुझे बहुत दिक़्क़त हो रही थी। मेरी कक्षा में तीन बच्चे ऐसे थे जिन्हें अक्षर–ज्ञान ही था और वे शब्द नहीं पढ़ पाते थे। कई बच्चे ऐसे थे जो शब्दों का उच्चारण तो कर लेते थे परन्तु अर्थ समझना उनके लिए सभंव नहीं था। इनकी पढ़ने की समस्या दूर करने के लिए मेरे दिमाग़ में बार–बार एक ही विचार आता कि इनकी पढ़ने की रुचि बढ़े और ये किताबों की तरफ़ आकर्षित हों लेकिन कैसे? क्योंकि उनके पास पढ़ने के लिए केवल पाठ्यपुस्तकें ही थीं। वो भी एकदम नीरस और बेजान जिसे बार–बार पढ़ना, बच्चों की किताबों से दूरी को ओर बढ़ा रहा था। घर पर उनके पास कोई किताब होती नहीं है, लाइब्रेरी उन्होंने कभी देखी नहीं, स्कूल की लाइब्रेरी में भी छोटे बच्चों के लिए कोई किताब नहीं होती और न ही रीडिंग का कोई पीरियड दिया जाता है। ऐसे हालात में उनकी पढ़ने की क्षमता को बेहतर करने के लिए मुझे एक रास्ता दिखाई दिया। मैंने अपनी स्कूल की लाइब्रेरी में पुरानी चकमक की किताबें देखी थी जिनको मैं क्लास में ले आई। बच्चों से कहा कि ये आपके लिए हैं। जब चाहो पढ़ना। ये सुनकर बच्चे चकमक पर टूट पड़े। ऐसा लगा जैसे किसी भूखे को खाना मिल गया हो। मैंने सोचा कि जब ये बच्चे पढ़ने को इतने लालायित हैं तो इनकी इस रुचि को क्यों नहीं बढ़ाया जाए? मुझे लगा कि इनके लिए मुझे क्लास में ही किताबें लाने का इन्तज़ाम करना पड़ेगा। और मैंने अपनी कोशिश शुरू कर दी। स्कूल की प्रमुख लाइब्रेरी से मैंने कुछ बच्चों के पढ़ने लायक किताबें छांटी और उनको अपनी क्लास में रख दिया। ये किताबें मेरे नाम से इश्यू की गई थीं इसलिए इनके खोने की ज़िम्मेदारी मेरी थी। बच्चे इस बात को समझ रहे थे और वे उसे क्लास में पढ़कर संभालकर रख देते। धीरे–धीरे अधिकांश बच्चों का रुझान किताबों की तरफ़ बढ़ने लगा और वे मन लगाकर पढ़ने लगे। कुछ बच्चे किताबों की तरफ़ ध्यान नहीं देते थे क्योंकि उनको किताब पढ़ना ही नहीं आता था। मैंने उनके साथ कुछ गतिविधि करना शुरू किया। इसमें ''खिलौने का पन्ना'' और ''काग़ज़ से बनाओ'' वाले पेज से उनको परिचित करवाया और कुछ चीज़ें बनाकर दिखाई जिससे वे बिना पढ़े भी संकेतों को समझकर कुछ–कुछ चीज़ें बनाने लगे और किताबों को हाथ में लेने लगे। इससे उनकी किताबों से दूरी कुछ कम हुई।

कई बच्चे ऐसे थे जो शब्दों का उच्चारण तक कर लेते थे परन्तु अर्थ समझना उनके लिए संभव नहीं था। इनकी पढ़ने की समस्या दूर करने के लिए मेरे दिमाग में बार–बार एक ही विचार आता है कि इनकी पढ़ने की रुचि बढ़े और ये किताबों की तरफ़ आकर्षित हों लेकिन कैसे? क्योंकि उनके पास पढ़ने के लिए केवल पाठ्यपुस्तके ही थी। वो भी एकदम नीरस और बेजान जिसे बार–बार पढ़ना, बच्चों की किताबों से दूरी को ओर बढ़ा रहा था।

मैंने अपनी क्लास के एक कोने में टेबल पर किताबों को एक साथ रख दिया क्योंकि शुरु आत में मेरे पास केवल चकमक किताबें ही थी इसलिए उसे छांटने की कोई ज़रूरत नहीं थी। बच्चों को सप्ताह के तीन दिन ही केवल एक–एक पीरियड पढ़ने के लिए दिया गया था। परन्तु वे

जब भी क्लास में अपना विषय का काम कर चुके होते तो उन्हें किताबें देखने की छूट थी।

कुछ सप्ताह बाद मुझे लगने लगा कि बच्चों का किताबों से मन भर गया है क्योंकि उनके पास एक ही तरह की किताबें थीं जो सभी की रुचि और पसंद के अनुसार नहीं थी। तब मैंने बच्चों का ध्यान आकर्षित करने के लिए चकमक से कुछ गतिविधि करवानी शुरू किया। बच्चों के साथ मिलकर मैंने वर्ग–पहेली हल की, काग़ज़ से बनाओ के तहत हमने मिलकर चीज़ें बनाई, अपना खिलौना बनाओवाली एक्टिविटी उन्होंने घर ले जाकर भी की। इस तरह कुछ सप्ताह बच्चे किताबों में लगे रहे। इसी बीच जो बच्चे पढ़ने से जी चुराते थे वे धीरे–धीरे थोड़ा पढ़ने लगे और जो पहले से थोड़ा पढ़ते थे उनकी पढ़ने की गति बढ़ने लगी।

अब बच्चे चौथी से पांचवीं में आ गए थे और यहां की भी टीचर मैं ही थी। क्लास लाइब्रेरी के काम को आगे बढ़ाने के लिए इस साल (2006) भी मुझे ही काम करना था। अब तक यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ गई थी कि कुछ बच्चे जिन्हें पढ़ना नहीं आता है वे भी किताबों में कम से कम चित्र देखते हैं और चित्रों को ही पढ़ते है, चित्रों पर ही बातचीत करते हैं। इसलिए उनके लिए वे किताबें ज़्यादा उपयोगी थीं जिनमें केवल चित्र हों और लिखा हुआ कम हो। अब दूसरी प्रकार के बच्चे जिन्हें पढ़ना तो आता था परन्तु उनको पढ़ी गई बात समझ में नहीं आती थी इसलिए चकमक में उनकी कोई ज़्यादा रुचि नहीं थी। उसमें से वे केवल सरल कविताएं ही पढ़ते थे। कोई भी लम्बा पाठ्य या बड़ी कहानी बच्चे नहीं पढ़ पाते थे। और तीसरी तरह के बच्चे जो पढ़ा हुआ समझ भी पाते थे। इनकी संख्या काफ़ी कम थी लेकिन इनकी रुचि सब तरह की किताबों में थी। वे कविताएं, कहानियां, विज्ञान की बातें, वर्ग–पहली, नाटक आदि सभी तरह की रचनाओं को पढ़ने में रुचि दिखाते थे।

इस प्रकार अलग–अलग तरह के बच्चों के लिए मैंने स्कूल की प्रमुख लाइब्रेरी से तीन–चार प्रकार की किताबें छांटी जिनमें केवल चित्रों वाली (गुब्बारा, कौवा, आम), सरल कहानियोंवाली (नाव चली, बिल्ली बच्चे आदि) और सीबीटी, एनबीटी आदि की कहानियों की किताबें थीं परन्तु इन सब किताबों की संख्या बहुत ही कम थीं और इसे लाइब्रेरियन ने मेरे नाम से इश्यू किया था जिसकी ज़िम्मेदारी मेरी थी। लेकिन किताबें ख़राब होने पर उनका पैसा मुझे भरना पड़ेगा ये बात बच्चों को बताए जाने पर उन्होंने किताबों की देखभाल की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। वे अपने पढ़ने के समय में किताबें लेकर पढ़ते और उसे सम्भालकर फिर रखते क्योंकि किताबें ज़्यादा नहीं थी इसलिए फटते ही फिर वे इसे चिपका देते और रैक पर रख देते। वे जानते थे कि वे ऐसा नहीं करेंगे तो उन्हें पढ़ने के लिए किताबें मिलना मुश्किल है।

जब बच्चों को पढ़ने में मज़ा आने लगा तो वे किताबों को घर ले जाने की मांग करने लगे। मैं तो यही चाहती थी कि उनके साथ–साथ उनके घर के लोग भी इसका फ़ायदा उठा सके। इस काम को मैंने कक्षा मॉनिटर और रोल नंबर से एक–एक की मदद से किया। एक रजिस्टर में बच्चों के नाम का हर पेज लिख दिया और पूरे महीने वे जितनी किताबें घर ले जाते उसका रिकॉर्ड रजिस्टर में रखते। यह काम ज़्यादा नहीं चल पाया। बच्चों ने बताया कि इश्यू करनेवाले को पढ़ने का समय ही नहीं मिल पाता है। इसलिए इसे बदलना पड़ा। फिर बच्चे कौन सी किताबें घर ले गए उनका रिकॉर्ड मैं ही रखती। लेकिन बच्चे कई बार किताबें लाना भूल जाते और इस तरह से साल के अंत में कुछ किताबें खो गई। इस वजह से लाइब्रेरियन मुझ पर नाराज़ भी हुई।

जब बच्चों ने किताबों के साथ लापरवाही बरती तो उन्हें इस बात का एहसास कराना ज़रूरी था कि वे ग़लत काम कर रहे हैं। इसलिए मैंने सोचा कि जो किताबें खो गईं वो

कुछ सप्ताह बाद मुझे लगने लगा कि बच्चों का किताबों से मन भर गया है क्योंकि उनके पास एक ही तरह की किताबें थीं जो सभी की रुचि और पसंद के अनुसार नहीं थी।

सबसे आख़री बार किसे दी गई थी वो उसे जमा कराएं तभी उसे नई किताब मिलेगी। जब तक किताब जमा नहीं करते तब तक केवल क्लास में पढ़ सकते है घर नहीं ले जा सकते। इसका कुछ प्रभाव पड़ा और बच्चे किताबें लाना याद रखने लगे।

प्राथमिक कक्षाओं में बच्चों का किसी भी चीज़ में मन जल्दी भर जाता है और वे फिर उससे बेरुख़ी दिखाने लगते हैं। इसलिए मैं पूरे सालभर की किताबें एक साथ क्लास में नहीं लाती थी। पत्रिकाओं की तो हर महीने एक–एक कॉपी नई आ जाती थी साथ ही सीबीटी और एनबीटी की किताबें भी। मैं 30–30 का सेट पूरा बदल करके लाइब्रेरी से नया ले आती जिसमें तरह–तरह की कहानियां आदि होती हैं। मैंने अभी तक किताबों को इससे ज़्यादा श्रेणियों में नहीं डाला था और मेरे पास ज़्यादा किताबों को रखने की जगह भी नहीं थी, न ही पैसा था। इसलिए हर बार, हर बच्चे की पसन्द को ध्यान में रखते हुए मुझे किताबों का चयन करना पड़ता था। लेकिन हर महीने किताबें बदलने से उनकी किताबों में जिज्ञासा बनी रहती और वे नया कुछ पढ़ने के इन्तज़ार में रहते। ठीक यह बात वेलिंगटन ने लिखी है कि बच्चों का पढ़ने की तरफ़ रुझान बढ़ाने के लिए हर बार नई किताबें शामिल करना ज़रूरी है।

कक्षा पुस्तकालय की उपयोगिता केवल पढ़ने के लिए नहीं है बल्कि इसका उपयोग इससे कहीं अधिक है जैसे बच्चों के पढ़ने और लिखने के कौशल को बढ़ाना। पाठ्यपुस्तकों के अलावा छोटी कक्षा के बच्चों को और अधिक पुस्तकें उपलब्ध कराना और उनको आपस में बातचीत के अवसर उपलब्ध कराना। बच्चे स्वयं अपने स्तर पर पढ़ सके और अपने पाठ्यक्रम का विस्तार कर सकें।

पिछले वर्ष हम कीड़ों के बारे में पढ़ रहे थे। पुस्तकालय में हमारे पास मकड़ी के बारे में एक किताब थी जिसे मैंने पढ़कर बच्चों को सुनाया। इसके बाद हर बच्चे ने उस किताब को बहुत ध्यान से पढ़ा। इसी तरह पिछले महीने हम अंग्रेज़ी की कक्षा में 'जंतुओं के बच्चे' पढ़ रहे थे। बच्चों ने कक्षा पुस्तकालय की किताबों से ढूंढकर वो किताब निकाल ली जिसमें कई जानवरों के उनके बच्चों के साथ चित्र थे और कुछ नए नाम उन्होंने अपने आप सीख लिए।

बच्चों को जब अपने स्तर पर पढ़ने और अपने साथियों के साथ बातचीत करने का मौक़ा मिलता है तो शब्दों का भंडार बढ़ता है, वे कई सारे नए शब्दों को नए–नए संदर्भों में पढ़ते हैं व उनका अपने वाक्यों में प्रयोग करते हैं। साथ ही वे जितना ज़्यादा पढ़ते हैं उतनी ही उनकी समझ बढ़ती है जिससे उनको अपनी पाठ्यपुस्तकों को समझने में भी मदद मिलती है। जब बच्चे स्वयं अपने हिसाब से पढ़ते हैं तो उन्हें बार–बार पढ़ने पर कोई रोकता नहीं है, उनकी ग़लतियों पर उन्हें कोई टोकता नहीं है। इसलिए वे अपनी मन–पसन्द चीज़ों को पढ़ने का आनंद ले सकते हैं। इसके विपरीत जब उन्हें कक्षा में रोक–टोककर पढ़ाया जाता है तो पढ़ना उनके लिए नीरस हो जाता है।

पठन का असर उनकी लेखन क्षमता पर भी दिखाई देता है। जो बच्चे कम किताबें पढ़ते हैं वे लिखने में हिचकिचाते हैं, उनके विचारों की अभिव्यक्ति ठीक से नहीं हो पाती है लेकिन ज़्यादा किताबें पढ़नेवाले विद्यार्थी अपने विचारों को बेहतर तरीक़े से व्यक्त कर पाते हैं।

कक्षा पुस्तकालय का लगातार दो साल तक उपयोग करनेवाले बच्चों की भाषा पर क्या प्रभाव पड़ा इसे देखने के लिए विद्या भवन द्वारा गठित रिसर्च फोरम में चर्चा की गई। और एक लघु शोध बच्चों के साथ की गई जिसमें उन्हें एक क्लोज़ टेस्ट दिया गया। इसमें बच्चों को पैराग्राफ को पढ़ने के बाद उसमें छूटी हुई पक्तियों को पूरा करना था। इस टेस्ट को करनेवाले बच्चों की भाषा के क्लोज़ टेस्ट के अंक को उनके द्वारा पढ़ी गई किताबों की संख्या से संबंध देखा गया। जिन बच्चों ने ज़्यादा किताबें पढ़ीं उन्होंने क्लोज़ टेस्ट में ज़्यादा अंक अर्जित

जब बच्चे स्वयं अपने हिसाब से पढ़ते हैं तो उन्हें बार–बार पढ़ने पर कोई रोकता नहीं है, उनकी ग़लतियों पर उन्हें कोई टोकता नहीं है इसलिए वे अपनी मन–पसन्द चीज़ों को पढ़ने का आनन्द ले सकते हैं।

किए। इन्हीं बच्चों का गणित के इबारती सवालों को पढ़कर हल करने का संबंध जांचा गया जिसमें गणित की संक्रिया का मतलब उनकी समझ में आया कि नहीं। इसमें भी किताबों में रुचि रखनेवालों ने गणित में अधिक अंक प्राप्त किए थे। इससे यह बात समझने में मदद मिलती है कि बच्चों की भाषा की समझ पढ़ने से ही बेहतर होती है और इसका प्रभाव अन्य विषयों पर भी दिखाई देता है।

इसी कार्य को आगे बढ़ाते हुए मैंने पढ़ने का असर लेखन क्षमता पर भी देखना चाहा और पिछले वर्ष इस कार्य को बच्चों के साथ प्रारम्भ किया। पिछले वर्ष कक्षा पुस्तकालय में शामिल बच्चों का स्तर देखने के लिए उनसे कुछ विषयों पर एक–एक पैराग्राफ लिखवाए। साल के अन्त में फिर से उनसे लिखने को कहा गया तो पाया कि 6–7 वाक्य लिखनेवाले बच्चों ने साल के आख़िर में उसी विषय पर 22–23 वाक्य लिखे हैं। और नए विषय पर लिखाने की उनकी अभिव्यक्ति बढ़ी है। अभी इस पर आगे कार्य चल रहा है।

कक्षा पुस्तकालय में बच्चों का उत्साह बढ़ता जा रहा था परन्तु नई किताबें शामिल कहां से की जाएं? क्योंकि बच्चों की किताबें कम थीं और नई लाने के लिए कोई व्यवस्था नहीं बन रही थी। अपने सहकर्मियों से भी किताबें एकत्र करने पर 15–20 से ज़्यादा किताबें इकट्ठी नहीं कर पाई। हमने किसी तरह से किताबें जुटाईं। अब हमारे पास किताबें तो हैं मगर मैं इसको लेकर हमेशा सजग रहती हूं कि नई–नई और बढ़िया किताबें बच्चों को उपलब्ध करा सकूं। और यह देख सकूं कि आख़िर बच्चे कैसे उनका उपयोग कर रहे हैं। कक्षा पुस्तकालय पर अध्ययन करने पर यह समझने में बेहद मदद मिली कि हमें यदि बच्चों में पढ़ने की ललक जगानी है तो उनके लिए किताबें उपलब्ध करानी ज़रूरी है।

शहनाज़ डी.के., विद्या भवन बुनियादी माध्यमिक विद्यालय, रामगिरि, उदयपुर में शिक्षिका हैं।

लाइब्रेरी में मैग्ज़ीन

पल्लव

बचपन में स्कूल जाने पर मुझे लाइब्रेरी अक्सर बंद मिलती थी और वाचनालय के नाम पर एक हॉल था, जिसे सभा जलसे के लिए प्रयुक्त किया जाता था। हमारे स्कूल के इस वाचनालय में नंदन, चंपक, बालभारती, चंदामामा और बालहंस आती थी। मुझे इनमें दिलचस्पी नहीं थी क्योंकि नंदन और बालभारती वैसे ही घर आती थीं और बाक़ी चंपक बहुत छोटे बच्चों की लगती थी। चंदामामा भूत–प्रेतोंवाली, तो बालहंस चूं–चूं का मुरब्बा।

इतने बरस बीते। क्या लाइब्रेरी नहीं बदली? और मैग्ज़ीन? हमारे स्कूलों की लाइब्रेरियों में अब भी कमोबेश ये सारी पत्रिकाएं आती हैं। जो नहीं आतीं और जिन्हें आना ही चाहिए उनमें पहला नाम है– 'चकमक'। चकचम भोपाल के एक स्वैच्छिक संस्थान एकलव्य द्वारा निकाली जा रही मासिक बाल पत्रिका है। बच्चों की मैग्ज़ीन, जिसे बड़े भी पढ़ना चाहें।

पहली बात यह करें कि लाइब्रेरी या रीडिंग रूम में ये मैग्ज़ीन क्यों आनी चाहिए? जबकि टीवी और इंटरनेट हैं मनोरंजन के लिए। पुस्तकें हैं ही ज्ञान के लिए। तो इनकी क्या ज़रूरत है? क्या ये कोई विकल्प हैं टीवी, इंटरनेट या किताबों का? चाक्षुष अनुभवों की समृद्धि की होड़ में टीवी इंटरनेट का मुक़ाबला नहीं कर सकतीं। फिर भी इनकी ज़रूरत है तो इसके कारण देखे जाने चाहिए। मेरी समझ कहती है कि किताब के रास्ते की पहली सरल पगडंडी पत्रिका है और दूसरी बात यह कि सूचना व ज्ञान के बरअक्स रीडिंग हैबिट्स (पढ़ने की आदत) और रीडिंग प्लेजर (पढ़ने का आनन्द) की बुनियाद इनमें होती है। अब यह बात ऐसे हुई कि जिस मैग्ज़ीन में ये गुण हों वह बच्चों के लिए सर्वोत्तम होगी। तो चकमक उस सर्वोत्तम की कसौटी पर क्या खरी उतरती है? कोई बीस वर्षों से निकल रही यह मासिक पत्रिका पिछले सालभर से नए रूप–रंग–आकार में आने लगी। चिकना काग़ज़–रंगीन छपाई। इसका उपशीर्षक है 'बाल विज्ञान पत्रिका।' विज्ञान के नाम पर वह रूढ़ि नहीं कि परखनलियां, दशमलव के चित्र–पहेलियां ही मिलें। जिसे वैज्ञानिक समझ कहते हैं उसका प्रारंभिक पोषण (या खुराक) इस पत्रिका से मिलती है। जिसे हम सच्चे अर्थ में बच्चों का साहित्य कहते हैं उसकी भरी पूरी झलक चकमक के अंकों में देखी जा सकती है। जनवरी 2009 के अंक में ही एक कविता देखिए–

सांझ घिरे जब नींद की झपकी
पेड़ों को आने लगती
चुप–चुप सी पेड़ों की अम्मा
मन में पछताने लगती
फैल–फूटकर, जगह घेरकर
सोते पर्वत बड़े–बड़े
मेरे दिल के टुकड़े कैसे
सो पाएंगे खड़े–खड़े

(प्रभात की कविता– पेड़ों की अम्मा का दुख)

ठीक इसी तरह 'ज़्यादा किसे मिले' और धारावाहिक अमिया की कहानियां हैं, जिन्हें पढ़ना किसी के लिए भी सुखद अनुभव है।

विज्ञान पत्रिका में इतना और विविध ढंग का साहित्य हो तो वह सम्पूर्ण पत्रिका कहलाने की हक़दार है। पत्रिका के नियमित स्तंभों में प्रयोगशाला, माथापच्ची, बच्चों का पन्ना इत्यादि है। एक और बढ़िया बात है– दुनिया और भारत के साहित्य में मशहूर होनेवाली स्तरीय किताबों की चर्चा। इस बार खालिद हुसैनी की चर्चित पुस्तक 'द काइट रनर' चर्चा और उसके रोचक अंश का

सरल हिंदी अनुवाद दिया गया है– काबुल की सर्दियां। क्या कभी हमने सोचा कि टीवी में वाशिंगटन और मेलबोर्न देखते हमारे बच्चे काबुल, लाहौर या रंगून के बारे में कितना जाते हैं। काबुल को छोड़ें हमारे देश के ही हिस्से अरुणाचल प्रदेश या सिक्किम की अशांति की ख़बरों के सिवाय क्या सुनते हैं हम? तो कुछ नहीं। चकमक में ऐसे नवाचारों की लम्बी परंपरा है। विज्ञान के बालकोपयोगी प्रयोगों को विस्तार से सुन्दर चित्रों के साथ यहां देखा जा सकता है। ठीक इसी तरह वैज्ञानिकों, महान वैज्ञानिक उपलब्धियों पर भी अक्सर सामग्री होती है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है लेकिन कितने स्कूलों में ईद, मोहर्रम या बैसाखी की जानकारी दी जाती है। क्रिसमस के साथ ग्लैमर न होता तो यह भी इसी श्रेणी में आ जाता। एक और बात नायकों के संबंध में। नायकलोलुप हमारे समाज में बच्चों को क्या विकल्प दें? शाहरुख या सचिन? आप कह दें, यह ज़रूरी ही नहीं है। लेकिन सवाल तो है। इसी सवाल से जूझते हुए चकमक अब तक ऐसे लोगों से मिलवाती है जो हमारे नायक हैं लेकिन मीडिया की चमक में नहीं। कभी चकमक ने राकेश शर्मा से मिलवाया था तो इस बार आर.के. लक्ष्मण से।

चकमक की एक और सुंदर बात इसका सज्जा है। अतनु राय अपनी डिज़ाइन से इसे इस क़दर आकर्षक बनाते हैं कि पत्रिका आंख से दिल की गहराई तक कब उतर जाए, पता नहीं चलता। सुशील शुक्ल और शशि सबलोक की संपादकीय टीम इस नवाचार के लिए भी बधाई।

अंत में यह कि हिन्दी क्षेत्र या हिन्दी पट्टी या गऊ पट्टी या गोबर पट्टी की बदहाली की बात ख़ूब की जाती है। लेकिन इसकी जड़ता को तोड़ने की शुरुआत कैसे हो, यह बात नहीं होती। जी, चकमक वही समाधान है।

पल्लव, जनार्दनराय नागर, राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाते हैं। कथा समीक्षा में सक्रिय पल्लव 'बनास' का संपादन भी कर रहे हैं।

सुशील शुक्ल, चित्र एवं सज्जा : **दिलीप चिंचालकर**

कल्पनाओं को पर लगा देती हैं चित्रकथाएं

गोविन्द सिंह गहलोत

बात उन दिनों की है जब मैं कक्षा आठवीं में पढ़ता था। हमारा स्कूल राजकीय था। मुझे याद है जब भी स्कूल में कोई पीरियड खाली होता था तब हमारे स्कूल के शारीरिक शिक्षक डण्डा बजाते हुए आते और पूरी कक्षा को लाइब्रेरी में बैठाकर कहते 'यहां चुपचाप बैठ जाओ।' तब हम वहां बैठकर कुछ बन्द अलमारियों की तरफ़ देखते, अन्य बच्चों से आपस में बतियाते हुए पूरा पीरियड निकाल देते। कभी–कभी तो पुस्तकालय में ही हमारे शारीरिक शिक्षक बच्चों को आपस में बातचीत करते देखकर उनको पकड़कर वहीं पूजा–अर्चना (पिटाई) कर देते। ऐसा मेरे दोस्तों के साथ दो–तीन बार हुआ।

उन दिनों बाज़ार में चंदा मामा, चाचा चौधरी और साबू के कारनामे नाम की चित्रकथाएं बहुत प्रसिद्ध थीं। इन पुस्तकों की चर्चाओं का यह आलम था कि दो–तीन बार में स्वयं गणित के पीरियड में गणित की पुस्तक के बीच ये बाल कथाएं पढ़ते हुए पकड़ा गया व दो दिन तक मुझे उस पीरियड में न आने का दण्ड दिया गया।

ये बाल चित्रकथाएं उन दिनों पचास पैसे प्रति किताब के हिसाब से एक दिन के किराए पर मिलती थी जिसे लाकर मेरे कक्षा के अधिकतर बच्चे स्कूल व अन्य समय में पढ़ते थे लेकिन इस तरह की किताबों का हमारी लाइब्रेरी में अभाव था। वहां पर कुछ पुरानी पुस्तकें होती थीं जिनमें अधिकतर पाठ्यपुस्तकों से संबंधित ही पुस्तकें हुआ करती थीं जिन्हें इश्यू कराने का साहस कोई बच्चा नहीं करता था।

अब आज मैं उन चित्रकथाओं के संबंध में कभी–कभी सोचता हूं तो ऐसा लगता है कि उनमें ऐसा बहुत कुछ था जो पाठ्यपुस्तकों में नहीं होता।

मुझे याद है कि उन चित्रकथाओं की पुस्तकों के प्रति पूरी कक्षा के बच्चों का इतना उत्साह था कि उनकी पूरी शृंखला पढ़े बग़ैर कोई भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहता था। और इस तरह की चित्रकथाओं के पढ़ने के एवज में घर पर पिताजी की डांट व स्कूल में मास्टरजी की मार ज़्यादा मायने नहीं रखती थी। हमारी कक्षा के बच्चों के लिए ये चित्रकथाएं, पाठयपुस्तकों से काफ़ी बढ़कर थी। इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि छुट्टी होने के बाद भी अधिकतर बच्चे उन चित्रकथाओं में घटित घटनाओं के बारे में एक दूसरे से चर्चाएं करते रहते थे।

कक्षा में शिक्षण के दौरान मुझे यह अनुभव हुआ कि कक्षा में शिक्षक कबीर के दोहे याद करवा रहे थे। लेकिन मेरा ध्यान पढ़ी चित्रकथा के ऊपर बार–बार जा रहा था कि चाचा चौधरी और साबू और किन–किन लोगों को बचाने जाएंगे व साबू क्या नए कारनामे करेगा। बार–बार इसी तरह के ख़्याल मन में आते रहते और जब तक उसके आगे की चित्रकथा न पढ़ लेते तब तक स्कूल की पढ़ाई में मन नहीं लगता था।

अब आज मैं उन चित्रकथाओं के संबंध में कभी–कभी सोचता हूं तो ऐसा लगता है कि उनमें ऐसा बहुत कुछ था जो पाठ्यपुस्तकों में नहीं होता।

वास्तव में ऐसी किताबें चित्रों से लबरेज़ होती थी। साथ ही उनमें जो घटनाएं शामिल की जाती थीं वे हमारे संदर्भों से जुड़ती थीं। इतना ही नहीं घटनाएं हमें काल्पनिक लोक की सैर कराती थीं। पाठ्यपुस्तकों में ये सब बातें क्यों नहीं होती?

गोविन्द सिंह गहलोत, विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र, उदयपुर में कार्यरत।

मैं बर्तन मांजूंगा

हेमराज भट्ट

बचपन में कोर्स से बाहर की कोई पुस्तक पढ़ने की आदत नहीं थी। ऐसी कोई पत्र–पत्रिका या किताब मिल भी नहीं पाती थी। गुरुजी के डर से पाठ्यक्रम की कविताएं रट लिया करते थे। कभी अन्य कुछ पढ़ने की इच्छा हुई तो अपने से बड़ी कक्षा के बच्चों की पुस्तकें पलट लिया करते थे। पिताजी महीने में एक–दो पत्रिका या कोई किताब अवश्य ख़रीद लाते थे, किंतु वह उनके ही स्तर की हुआ करती थी। जिसे पलटने की हमें मनाही हुआ करती थी। अपने बचपन में तीव्र इच्छा होते हुए भी कोई बाल–पत्रिका या बच्चों की पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला।

आठवीं तक के इम्तहान मैंने घर के बिल्कुल पास की प्राइमरी और जूनियर पाठशाला से पास किए। इस उम्र तक कोई बड़ा शहर देखने का अवसर भी नहीं मिला। खेलकूद प्रतियोगिताओं में भाग लेनेवाले बच्चे अवश्य विकासखंड मुख्यालय अथवा ज़िला मुख्यालय और कभी–कभी मंडल तक घूम आते थे किंतु खेलों में तो मैं एकदम फिसड्डी था। खेल की अपेक्षा मेरी पढ़ने में रुचि थी। कोर्स की किताबों के अलावा कुछ किताबें पढ़ने की बहुत ही इच्छा हुआ करती थी। कई बार थैलियों के रूप में आए अख़बारों की कतरनों को भी पढ़ा करता था, कहीं इधर–उधर कूड़े में भी कोई पुरानी किताब, अख़बार या अन्य छपा हुआ काग़ज़ दीख पड़ता तो उसे बग़ैर पढ़े नहीं छोड़ता था। आठवीं पास करके जब नवीं कक्षा में भर्ती होने के लिए मुझे गांव से दूर एक छोटे शहर भेजने का निश्चय किया गया तो मेरी ख़ुशी की सीमा न रही। नई जगह, नए लोग, नए साथी, नया वातावरण, घर के अनुशासन से मुक्त, अपनी ज़िम्मेदारी का एहसास, स्वयं खाना बनाना, खाना, अपने बहुत से काम ख़ुद करने की शुरुआत। इन बातों का चिंतन भीतर ही भीतर आह्लादित कर देता था। मां, दादी और पड़ोस के बड़ों की नसीहतों और हिदायतों के बाद मैं पहली बार शहर पढ़ने गया। मेरे साथ गांव के दो साथी और थे। हम तीनों ने एक साथ कमरा लिया और साथ–साथ रहने लगे।

हमारे ठीक सामने तीन अध्यापक रहते थे। पुरोहितजी जो हमें हिंदी पढ़ाते थे। लाल दांतोंवाले खान साहब जो हर वक़्त पान चबाया करते थे। उनका पान बनाने का मसाला एक छोटे से झोले में साथ–साथ रहता था। उनके लिए हमने एक जुमला रच डाला था, ''अमीर खान की यही पहचान, हाथ में झोला मुंह में पान।'' खान साहब बहुत विद्वान और संवेदनशील अध्यापक थे। यूं तो वह भूगोल के अध्यापक थे किंतु संस्कृत के अतिरिक्त हमें सारे विषय पढ़ाया करते थे और विशेष अवसरों पर नाटक, गीत, नृत्य आदि की तैयारी भी करवाया करते थे। और तीसरे अध्यापक थे विश्वकर्मा जी, जो हमें जीव विज्ञान पढ़ाया करते थे।

गांव से गए हम तीनों विद्यार्थियों में उन तीनों अध्यापकों के बारे में पहली चर्चा यह रही कि वे तीनों साथ–साथ कैसे रहते और बनाते–खाते हैं। पुरोहित तो ब्राह्मण होते हैं, विश्वकर्मा अनुसूचित जाति के और खान साहब तो मुसलमान हैं। लेकिन धीरे–धीरे जब हमें शहर की आदत पड़ गई और यह ज्ञान हो गया कि शहर में गांव जैसा ऊंच–नीच, जात–पांत का भेदभाव नहीं होता, तब एक–दूसरी चर्चा उन्हीं अध्यापकों के बारे में हमारे बीच रहने लगी।

होता यह था कि विश्वकर्मा सर रोज़ सुबह–शाम बर्तन मांजते हुए दिखाई देते। खान साहब या पुरोहितजी को हमने कभी बर्तन धोते नहीं देखा। विश्वकर्माजी उम्र में सबसे छोटे थे, हमने सोचा शायद इसीलिए उनसे बर्तन धुलवाए जाते हैं और स्वयं दोनों

गुरुजी खाना बनाते हैं। लेकिन ये बर्तन मांजते क्यों हैं? हम तीनों में तो बर्तन मांजने के लिए रोज़ ही लड़ाई हुआ करती थी। मुश्किल से ही कोई बर्तन धोने को तैयार होता था।

विश्वकर्मा सर को एक और शौक़ था, पढ़ने का। मैं उन्हें जब भी देखता पढ़ते हुए देखता। ग़ज़ब के पढ़ाकू थे वे, एकदम किताबी कीड़ा। रसोई में खाना बना रहे हैं तो एक हाथ में किताब है दूसरे से स्टोव में पंप दे रहे हैं। धूप सेंक रहे हैं तो हाथों में किताब है। टहल रहे हैं तो पढ़ रहे हैं। स्कूल में भी खाली पीरियड में उनकी मेज़ पर कोई न कोई पुस्तक खुली रहती। विश्वकर्मा सर को ढूंढ़ना हो तो सबको पता होता था कि वे पुस्तकालय में मिलेंगे। वे तो खाते समय भी पढ़ते थे। वह एक कौर मुंह में डालते थे और दूसरे हाथ से किताब पलट रह होते थे।

उनको पढ़ते देखकर मैं बहुत ललचाया करता था। उनके कमरे में जाने और उनसे पुस्तकें मांगने का साहस नहीं होता था, कि कहीं घुड़क न दें कि कोर्स की किताबें पढ़ा करो। बस उन्हें पढ़ते देखकर, उनके हाथों में रोज़ नई–नई पुस्तकें देखकर मन ललचाया करता था। कभी–कभी मन ही मन सोचा करता था कि जब बड़ा होऊंगा तो गुरुजी की तरह ढेर सारी किताबें ख़रीद लाऊंगा और ठाट से पढ़ूंगा। तब कोर्स की किताबें पढ़ने का झंझट नहीं होगा।

गुरुजी को बर्तन धोते देखकर हम उनकी मदद कर लिया करते थे। कई बार ज़बरदस्ती उनसे लेकर बर्तन धो डालते और अंदर रख आते।

एक दिन धुले बर्तन भीतर ले जाने के बहाने मैं उनके कमरे में चला गया। देखा तो सारा कमरा पुस्तकों से भरा हुआ है। उनके कमरे में अलमारी नहीं थी इसलिए उन्होंने पुस्तकों की, कई ढेरियां बना रखी थी। और कुछ चारपाई पर, कुछ तकिया के पास और कुछ मेज़ के ऊपर क़रीने रखी हुई थी। मैंने बर्तन एक ओर रखे और ख़ुद उस पुस्तक–प्रदर्शनी में खो गया।

मैंने एक पुस्तक उठाई और इत्मिनान से उसका एक–एक पृष्ठ पलटने लगा। गुरुजी ने कहा, ''पढ़ोगे?'' मेरा जैसे ध्यान टूटा। ''जी पढ़ूंगा।'' मैंने कहा। उन्होंने तत्काल एक पतली पुस्तक छांटकर मुझे दी और कहा, ''इसे पढ़कर लौटा देना और दूसरी ले जाते रहना।'' मेरे हाथ जैसे कोई बहुत बड़ा ख़ज़ाना लग गया हो। वह पुस्तक मैंने एक ही रात में पढ़ डाली। उसके बाद गुरुजी से पुस्तकें लाकर पढ़ने का मेरा क्रम चल पड़ा।

मेरे साथी मुझे चिढ़ाया करते थे कि मैं इधर–उधर की किताबों में समय बर्बाद करता हूं किंतु वे मुझे पढ़ते रहने के लिए प्रोत्साहित किया करते थे। वे कहते, ''जब कोर्स की पुस्तक पढ़ते–पढ़ते ऊब जाओ, झट से कोई बाहरी रुचिकर पुस्तकें पढ़ा करो। विषय बदलने से दिमाग़ में ताज़गी आ जाती है।'' इस प्रयोग से मेरी पढ़ने में भी रुचि बढ़ गई और विषय भी याद रहने लगे। वे स्वयं ढूंढ़–ढूंढ़ कर मुझे किताबें देते। पुस्तक के बारे में बता देते कि अमुक पुस्तक में क्या–क्या पठनीय है। इससे पुस्तक पढ़ने की रुचि और बढ़ जाती थी। कई पत्रिकाएं उन्होंने लगवा रखी थीं, उनमें बाल पत्रिकाएं भी थीं। उनके साथ रहकर बारहवीं कक्षा तक मैंने ख़ूब स्वाध्याय किया।

धीरे–धीरे जैसे हम मित्र हो गए थे। अब मैं निःसंकोच उनके कमरे में चला जाता और जो इच्छा होती पुस्तक लाकर पढ़ता और लौटा देता।

एक दिन मैंने उनसे पूछा, ''सर! आप केवल बर्तन ही क्यों धोते हैं खाना क्यों नहीं बनाते? दोनों गुरुजी खाना बनाते हैं और आपसे बर्तन धुलवाते हैं। यह भेदभाव क्यों?'' वे थोड़ा मुस्कराए और बोले, ''कारण जानना चाहते हो?'' मैंने कहा, 'जी'। उन्होंने कहा, ''भोजन बनाने में कितना समय लगता है?'' मैंने कहा, ''क़रीब दो घंटे।'' ''और बर्तन धोने में?'' उन्होंने पूछा। ''यही कोई दस–पन्द्रह मिनट।'' मैंने उत्तर दिया। ''बस यही कारण है'', उन्होंने कहा। और मुस्कराने लगे।

उनका समय बचाने का यह तर्क मेरे दिल को छू गया।

स्व. हेमराज भट्ट, अब इस दुनिया में नहीं रहे। उनके द्वारा लिखा गया यह लेख मिलने के साथ हमें यह ख़बर मिली कि उत्तरकाशी में यात्रा के दौरान वे दुर्घटनाग्रस्त हो गए। विद्या भवन एवं समस्त शिक्षा परिवार की ओर से उन्हें श्रद्धांजलि।

किताबें और बच्चे

सरन काला

कहानी सुनने का मुझे हमेशा से शौक़ रहा। ये आदत मेरी तब से बनी जब मैं छोटी थी। मैं हिमालय के ऐसे इलाके में जन्मी जहां 3–4 महीने बर्फ़ गिरा करती थी। घर से बाहर जाने का कोई मतलब नहीं था। संयुक्त परिवार था मेरा। पड़ोसी भी दूर–दूर रहते थे। सर्दियों में सायं 4 बजे ही दरवाज़े बंद हो जाते थे। अब क्या करें। हम आग तापते हुए बुखारी के पास बैठे अपनी दादी, बड़ी बहनों के साथ बस कहानियां सुना करते थे। कहानी सुनते–सुनते दादी का कहना था 'हूं' 'हूं' करते रहो। शायद हूं–हूं कहना आज के शब्दों में सुनाना समझना क्रियाशीलता रहा होगा। ढेरों कहानियां मेरी दादी के पास थीं। उनमें महाभारत के क़िस्से आदि कहानियां बच्चों को हमारे नज़दीक लाती हैं उनकी कल्पनाशक्ति को विकसित करती है। उनमें आत्मविश्वास भरती हैं। कहानी हमें शिक्षक नहीं बच्चों का साथी बनाती है।

इसी अनुभव का लाभ उठाते हुए विद्या भवन जूनियर स्कूल में पुस्तकों एवं पुस्तकालय पर विशेष ध्यान दिया गया। जिसमें तीन तरह से पुस्तकों के स्थान सुसज्जित किए गए। पुस्तकालय जो शाला में ऊपर अलमारियों में रहता था। उसको बच्चों के सामने लगाया। उसको मैं ''बेहतर शिक्षण सामग्री सुसज्जित कक्ष'' का दिन कहना पसंद करूंगी। इसके पीछे हमारा उद्देश्य था बच्चे केवल शिक्षक के द्वारा दिए गए ज्ञान पर ही निर्भर न रहे बल्कि स्वयं सक्रिय रहते हुए सहजता से सोचने की ओर बढ़ें।

पुस्तकालय के तीन भाग बनाए गये पहला 'कक्षा पुस्तकालय जिसकी ज़िम्मेदारी बच्चों को दी गई कक्षा में एक अलमारी या रैक लगाकर उसे बच्चों का कॉर्नर बनाया गया। बच्चों को पूर्ण स्वतंत्रता दी गई कि वे पुस्तकालय प्रभारी से अपनी पसंद की पुस्तकें उनमें रखें। पुस्तकालय प्रभारी बच्चों में से चुनने को कहा। बड़े अच्छे सुझाव आए किसी ने कहा एक सप्ताह लड़कियों को सौंपा जाए– किसी ने कहा– रजिस्टर के अनुसार। अन्त में निर्णय लिया गया कि कक्षा की प्रत्येक कतार में से 2–2 बच्चे लिए जाएं।

बडे सुन्दर परिणाम आए। बच्चों ने अपने नियम बनाए। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

- पुस्तकें पढ़कर उनकी जगह पर रखें।
- फट जाए तो चिपका देना।
- पूछकर घर ले जा सकते हो।
- खाना खाकर पुस्तकें पढ़ सकते हो।
- कल पुस्तकें बिखरी हुई थीं कृपया लास्ट में रखनेवाला बच्चा पुस्तकें लगाकर जाए।

इन नियमों ने कक्षा व्यवस्था में सुन्दर परिवर्तन किया। कई बार एक छोटी सी स्लीप हमारे लिए भी कक्षा में पहुंचा दी जाती थी ''दो किताबें नहीं मिल रही है।'' या ''कुछ बच्चे रैक से किताबें लेकर अपने डेस्क में छुपा लेते हैं।'' कभी–कभी शिकायत भरे वाक्य भी लिखकर हमें बच्चे देने लगे। जैसे पुस्तकों में से बच्चे चित्र फाड़ रहे हैं। पुस्तकालय लीडर द्वारा लिखे नियम हमें बताने लगे भाषा सीखने के लिए, एक मार्ग नहीं अनेक मार्ग पूर्णता में सहायक हैं इस प्रकार भाषा कौशल का विभिन्न

परिस्थितियों में विकास हो रहा था।

सभी शिक्षकों का अपनी कक्षा में छोटे से पुस्तकालय में सहयोग मिल रहा था। पन्द्रह दिन बाद बच्चे इन पुस्तकों को सेन्टर लाइब्रेरी से बदल कर लाते थे। जिस दिन पुस्तकें नई आती बच्चों में बांटने–छांटने की होड़ लग जाती। इस हलचल में लगता पुस्तकें अलमारी से निकल नन्हे हाथों में आकर बहुत कुछ देना चाहती हैं।

लघु पुस्तकालय का एक भाग विषय कक्ष में था वहां प्रत्येक विषय विज्ञान, भाषा, गणित, संबंधी पुस्तकें रखी गई। जब भी विषय पढ़ाया जाता उनमें से चार्ट बनाने, सप्ताह प्रोजेक्ट, थीम पर लिखने, करने को शिक्षक उन्हें प्रेरित करती। बच्चे उन पुस्तकों को घर भी ले जाते। बच्चे जो भी उनमें से पढ़ते–ढूंढ़ते– लिखते उन्हें वे दूसरों को भी बताते। कई बार पाठ पढ़ते हुए कुछ बातें वे कक्षा में दोहराते, प्रश्न उठाते कि उस पुस्तक में कुछ और भी बताया है। इस विषय पुस्तकालय में बच्चों को जानने–बटोरने के लिए इधर–उधर दौड़ना नहीं पड़ता था– कक्षा कक्ष को क्रियाशील बनाया जा रहा था।

पुस्तकालय का तीसरा भाग जूनियर स्कूल का मुख्य पुस्तकालय बीच में बनाया। यह पुस्तकालय शिक्षक, बच्चे, चतुर्थ कर्मचारी एवं अभिभावकों को सदैव आकर्षित करता रहा। इसकी बैठक व्यवस्था नीचे दरी बिछाकर, चौकियां लगाकर की गई। इसमें बच्चे किसी भी कोने में सेन्टर में चाहें तो टांग फैलाकर दीवार का सहारा लेकर पुस्तकें पढ़ सकते हैं। ढेरों पुस्तकें प्रातः बच्चों के आने से पूर्व चौकियों पर रख दी जातीं। प्रत्येक विषय में एक लाइब्रेरी का कालांश भी जोड़ दिया गया। जिससे प्रत्येक विषय के साथ शिक्षक बच्चों के साथ पुस्तकालय में आने लगे। एक अलमारी में शिक्षकों के लिए पुस्तकें स्टाफ रूम में भी रख दी गई जिससे वहां भी पुस्तकों का लाभ लिया जा सके।

समय–समय पर पुस्तकालय प्रभारी द्वारा पुस्तक प्रदर्शनी, विद्या भवन शिक्षा केन्द्र से ढेरों नई पुस्तकें बच्चों को आकर्षित करते रहे। पुस्तकालय का रूप बदल रहा था। जिसका परिणाम बच्चों में दिन प्रतिदिन दिखाई दे रहा था। मैंने पूर्व में जो कहा उसे दोहराना चाहूंगी– ''बच्चे पुस्तकें छुपा रहे थे'' उस पर हमने जानने की कोशिश की। जिन बच्चों ने पुस्तकें छुपाई थी उनका कहना था– हमारी कहानी अधूरी रही गई थी। फिर वो किताब इधर–उधर हो जाती। हमने पूछा कहां छुपाई। वे दौड़कर गए हमें जगह दिखाई। दरी के नीचे या अलमारी के पीछे। इतनी सरलता से पढ़ने के कौशल में वृद्धि हो रही थी।

कैसे पता चला बच्चे पढ़ रहे हैं? मैंने प्रार्थना में गिनती की। कितने बच्चे जल्दी स्कूल आते हैं। करीब 20–25 बच्चे खड़े हुए। जिनमें से 10 बच्चे सुखेर जीवन ज्योति के थे बाक़ी बच्चे आस–पास के। उनसे फिर पूछा यहां आकर क्या करते हो कोई शिक्षक तो होता नहीं। उनका कहना था ''हम जब आते हैं हमें अकेले में कहानी पढ़ने का अच्छा मौक़ा मिलता है।'' पूछने पर उन्होंने अपनी पसंद की पुस्तकों के नाम भी बताए। कुछ लड़कियों ने अपना कहानियों के शीर्षक तक लिखे हुए थे। कुछ ने उनमें चित्र भी बना रखे थे।

बच्चों की रुचि लगातार बढ़ती जा रही थी। कई बार बच्चों के बीच बैठकर देखा कि छोटे बच्चे कक्षा तीन के केवल पन्ने पलटते। छोटे–छोटे वाक्यों में लिखे चुटकले, पहेलियां, एक दूसरे को सुनाते हैं। चित्रों की कहनियां पढ़ते हैं। बस अंतर केवल ये रहता है ये बच्चे बोल–बोलकर पढ़ते है और पांचवीं के बच्चे मौन पठन करते हैं। लेकिन मुझे आश्चर्य हो जाता था कि जो बच्चे पाठ्यपुस्तक का पाठ पढ़ते हुए कई बार बीच में शब्द के लिए रुकते थे तब आगे बढ़ते थे। वे कहानी पढ़ते हुए बीच में कभी नहीं पूछते बस पढ़ते रहते हैं।

बच्चों की कल्पना और सोच विकसित करने तथा नवीनता पाने का पुस्तकालय और कहानियां अच्छा श्रेष्ठ साधन है। इन पर वे ख़ूब चर्चा करते हैं उदाहरण देते हैं। हंसते हैं, भावात्मकता ग्रहण करते हैं समझना उन्हें आ जाता है। कई चुनौतियां वे कहानी में जान लेते हैं। सामनेवाले की चालाकी समझकर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। उन्होंने जो सुना, जो पढ़ा उसमें उनकी स्मृति का विकास, घटनाओं, विषय से जोड़ना स्वतः आ जाता है।

सरन काला, विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र, उदयपुर में कार्यरत। पूर्व में विद्या भवन नर्सरी स्कूल में शिक्षिका थीं।

किताबों की रोशनी में बच्चे

के.आर. शर्मा

ख़ासकर प्राथमिक स्तर की शिक्षा में दिलचस्पी रखनेवालों के लिए यह खबर ज़रूर सुकून देनेवाली है कि बिहार जैसे पिछड़े राज्य में बेहतर शिक्षा को लेकर एक महाअभियान प्रारंभ किया गया जिसे बोधि वृक्ष नाम दिया गया है। बीते साल का आख़री महीना और इस साल के जनवरी का पहला सप्ताह बिहार के अलग–अलग इलाकों में बच्चों की चित्रात्मक, कविताओं, कहानियों और गतिविधियों की रंगबिरंगी किताबों के मेले लगे। इन फ़र्क़ किसम के मेलों में शिक्षक आए और अपने स्कूल के बच्चों के लिए किताबें अपने साथ लेकर गए। अब ये किताबें प्राथमिक स्कूल के बच्चों के हाथों में होगी। शिक्षक और प्रधानअध्यापक इस भय से भी मुक्त हैं कि इन किताबों के फटने पर शिक्षा विभाग की ओर से कोई स्पष्टीकरण नहीं देना होगा। दरअसल इस विचार की जड़ें और भी गहरी हैं। मामला केवल नौकरशाही की प्रक्रियाओं से मुक्त होना भर ही नहीं बल्कि बच्चों की पढ़ने की आदत का विकास हो यह अंततः मक़सद है। वे ठीक से पढ़ना और पढ़कर समझना सीखें। गौतम बुद्ध का बिहार से गहरा नाता रहा है। बिहार के बोधगया में सिद्धार्थ ने एक पेड़ के नीचे बैठकर तपस्या की थी। यही सिद्धार्थ आगे चलकर गौतम बुद्ध कहलाए। दरअसल गौतम बुद्ध एक विचार है। गौतम बुद्ध मूर्ति पूजा के विरोधी थे। उनका कहना था कि विचारों की क़द्र करनी चाहिए। इस लिहाज़ से उन्होंने समाज को बदलने का जो ज्ञान दिया इस वजह से उनके विचार काफ़ी महत्त्व के हैं। बिहार शिक्षा परियोजना द्वारा मुख्यधारा के स्कूली बच्चों को उनकी मन पसंद किताबें उपलब्ध कराने और उनमें प्रारंभिक स्तर पर पढ़ने के प्रति दिलचस्पी पैदा करने के लिए इस कार्यक्रम का नाम बोधि वृक्ष दिया है। सैकड़ों साल पहले गौतम बुद्ध ने जो विचार दिए समाज में कुछ नया करने की अब ऐसा लगता है कि बिहार ख़ासकर नन्हे बच्चों की शिक्षा को लेकर विचार को अपने यहां लागू करने जा रहा है।

नन्हे बच्चों की पढ़ने के प्रति ललक पैदा कैसे हो, यह काफ़ी चिंता का विषय रहा है। अक्सर स्कूलों का प्रसार हो जाना भर अपने आप में शिक्षा हासिल हो जाना सुनिश्चित नहीं करता। यदि हम स्कूलों के एक पहलू को देखें तो वहां बच्चे पांचवीं तक आते–आते सरल से पाठ्य को पढ़ नहीं पाते।

नन्हे बच्चों की पढ़ने के प्रति ललक पैदा कैसे हो, यह काफ़ी चिंता का विषय रहा है। अक्सर स्कूलों का प्रसार हो जाना भर अपने आप में शिक्षा हासिल हो जाना सुनिश्चित नहीं करता। यदि हम स्कूलों के एक पहलू को देखें तो वहां बच्चे पांचवीं तक आते–आते सरल से पाठ्य को पढ़ नहीं पाते। दरअसल हमारे यहां के अच्छे से अच्छे स्कूलों में आप चले जाएं, वहां पढ़ाई ध्वनि आधारित है जबकि अर्थ को पकड़ने, समझने पर ध्यान नहीं दिया जाता। यह कैसी विडंबना है कि आज हमारे यहां अधिकांश स्कूलों में बच्चों को अ आ इ ई जैसे अर्थहीन ध्वनियों/शब्दों की जुगाली कराई जाती है। जबकि बच्चे का दिमाग़ इस प्रकार का बना होता है कि वह शब्दों के अर्थों को समझ सकता है।

यह कैसी विडंबना है कि बच्चे या तो स्कूल में आते नहीं या आ जाते हैं तो टिक नहीं पाते। ख़ासकर हम जब बात कर रहे हैं उन बच्चों की जो स्कूल आना सीख ही रहे हैं, या उन अभिभावकों की जो अपने बच्चों को स्कूल में भर्ती करवाकर भेजना चाहते हैं। तो मूल सवाल यह है कि वे अभिभावक बीच में ही अपने बच्चों को क्यों स्कूल छुड़वा देते हैं? कुछ ही महीनों में उनका मन क्यों बदल

जाता है? इतना ही नहीं बच्चा स्कूल जाने के बदले गली–मोहल्लों में खेलने में लग जाता है। ऐसा क्यों नहीं होता कि बच्चा दौड़कर स्कूल की ओर भागे? आख़िर स्कूल बच्चों को रोकने में कामयाब क्यों नहीं होते?

बच्चों के स्कूल न आने या स्कूल छोड़ देने के कारणों को लेकर एक दलील तो यही दी जाती है कि बच्चे ही कमज़ोर होते हैं। ख़ासकर इस प्रकार की दलीलें सरकारी स्कूलों के हाशियाकृत समाज के बच्चों के संदर्भ में काफ़ी दी जाती रही हैं। मगर इसके उलट कि आख़िर बच्चे क्यों स्कूल में आना नहीं चाहते हैं? बच्चे क्यों बीच में ही स्कूल छोड़ देते हैं? इतना ही नहीं जो बच्चे स्कूल में पांच–सात साल तक पढ़ रहे होते हैं वे भी ठीक से पढ़ नहीं पाते हैं। और यदि पढ़ लेते हैं तो ठीक से समझ नहीं पाते हैं। हालांकि अध्ययन बयां करते हैं कि उन परिवारों के बच्चे जहां साक्षरता का प्रतिशत काफ़ी कम है उनके लायक स्कूल में सीखने–सिखाने की परिस्थितियां ही नहीं हैं। स्कूल बच्चों की सीखने की क्षमताओं को पहचान ही नहीं पा रहे हैं। स्कूल में बच्चे के भर्ती होते ही उसको एक नीरस किसम की पाठ्यपुस्तक थमा दी जाती है और उसको अ आ इ ई बोलने को बाध्य किया जाता है।

बिहार के प्राथमिक स्कूलों में पढ़ रहे बच्चों की तस्वीर वहां किए गए कुछ अध्ययनों से सामने आई है। बिहार शिक्षा परियोजना एवं यूनिसेफ के द्वारा दूसरी कक्षा के बच्चों के साथ कराए गए उपलब्धि स्तर के सर्वेक्षण में यह तथ्य सामने आया कि मात्र 11 फ़ीसदी बच्चे ही बिना संयुक्त अक्षर की छोटी कहानियां समझ के साथ पढ़ पाते हैं। इस लिहाज़ से देखा जाए तो यह बिहार शिक्षा परियोजना का एक साहस भरा कदम है कि अपने द्वारा रची गई शिक्षा व्यवस्था पर सवाल दागते हुए उनको समझने की कोशिशें हुई है। बिहार शिक्षा विभाग पहले तो इस दलदली सोच से बाहर निकलकर आया कि दरअसल बच्चे यदि लिखना–पढ़ना नहीं सीख पा रहे हैं तो इसमें बच्चों का दोष नहीं है। बल्कि स्कूल को और इनको संचालित करनेवालों को इस गंभीर मसले पर विमर्श करना चाहिए। बिहार शिक्षा विभाग ने इस बात को न केवल समझा बल्कि इस चिन्ता को ध्यान में रखते हुए कुछ ठोस क़दम भी उठाए हैं। बिहार शिक्षा विभाग ने एक ऐसी कार्ययोजना तैयार की जिसमें हाशियाकृत बच्चे जो पाठ्यपुस्तकों के अलावा कोई और किताबों को छूने से मोहताज रह जाते हैं, उनको कुछ दिलचस्प किताबें उपलब्ध हो सकें और वे पढ़ने के प्रति आकर्षित हो सकें।

उल्लेखनीय है कि भारत सरकार ने सर्व शिक्षा अभियान के तहत सभी राज्यों के लिए लर्निंग एनहांसमेंट प्रोग्राम (एलईपी) कार्यक्रम की स्वीकृति दी है। बिहार शिक्षा परियोजना एवं यूनिसेफ ने आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षकों एवं शिक्षा विशेषज्ञों की मदद से कक्षा–1 एवं कक्षा–2 के सभी बच्चों के लिए बोधि वृक्ष नाम से रीडिंग इंप्रूवमेंट प्रोग्राम का एक पैकेज विकसित किया।

बिहार शिक्षा परियोजना एवं यूनिसेफ के द्वारा दूसरी कक्षा के बच्चों के साथ कराए गए उपलब्धि स्तर के सर्वेक्षण में यह तथ्य सामने आया कि मात्र 11 फीसदी बच्चे ही बिना संयुक्त अक्षर की छोटी कहानियां समझ के साथ पढ़ पाते हैं।

इस पैकेज में कक्षा–1 एवं कक्षा–2 के लिए अलग–अलग कुल 300 घंटे की पाठ–योजना तैयार की गई है। यह कार्यक्रम बिहार के सरकारी प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ने वाले सभी बच्चों के लिए है। कक्षा–1 एवं कक्षा–2 में पढ़नेवाले कुल 59,87,053 बच्चों के लिए यह कार्यक्रम कुल 20 सप्ताह का तय किया गया। इस अवधि में यह प्रयास किया जाएगा कि कक्षा–1 एवं कक्षा–2 के बच्चों में पढ़ने की एक ललक पैदा हो एवं वे इस अवधि में छोटी–छोटी कहानियां समझ के साथ पढ़ना शुरू करें। कक्षा–1 एवं कक्षा–2 के सभी शिक्षकों को पाठ योजना सम्पादित करने के लिए ज़िले स्तर पर दो दिवसीय प्रशिक्षण दिया गया।

बोधि वृक्ष में पाठ्यपुस्तक के अतिरिक्त मनोरंजक एवं प्रारंभिक ज्ञान–विज्ञान की किताबों के माध्यम से बच्चों में पढ़ने की आदत विकसित करने की योजना है। राष्ट्रीय शैक्षिक एवं शोध

संस्थान, नई दिल्ली के दिशा निर्देश में, शिक्षकों एवं विशेषज्ञों की मदद से, स्थानीय परिवेश को ध्यान में रखते हुए लगभग 111 पुस्तकों का चयन किया गया है। इन किताबों में शब्दरहित चित्र पुस्तकें, चित्रात्मक कथा पुस्तकें, कविताओं की पुस्तकें, जानकारीपरक पुस्तकें, गतिविधि पुस्तकें, पहेली पुस्तकें शामिल की गई हैं। ये किताबें एनबीटी, एकलव्य, सीबीटी, एनसीईआरटी, प्रथम, स्कॉलास्टिक, जैसी संस्थाओं ने प्रकाशित की हैं। सर्व शिक्षा अभियान के तहत पुस्तकों की ख़रीद के लिए प्रत्येक विद्यालय को 40 रुपये प्रति बच्चे के हिसाब से राशि दी गई है। साथ ही, सभी प्राथमिक विद्यालयों को ग्रेडेड रीडिंग मटेरियल की ख़रीद के लिए प्रति विद्यालय 1000 रुपये का प्रावधान सर्व शिक्षा अभियान की ओर से किया गया है।

हम यदि पिछली सदी के आख़री के कुछ दशकों पर नज़र डालें तो एक योजना आई थी ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड जो अब फ़ाइलों में दफ़न हो गई लगती है। इसके तहत स्कूलों में न केवल किताबें मगर और भी कुछ साधन दिए गए थे मसलन ढोलक, झांझ, मज़ीरे, गतिविधियां और प्रयोग करने के लिए विज्ञान का सामान आदि। मगर यह कार्यक्रम कई कारणों से अपना प्रभाव नहीं दिखा पाया। इस योजना का असली मक़सद न तो शिक्षा विभाग के नुमाइंदों को समझ में आया न ही स्कूली स्तर पर। ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड की सामग्री की चुनाव प्रक्रिया ही संशय के घेरे में आ गई थी। इतना ही नहीं यदि उन दिनों की याद को ताज़ा करें तो शिक्षा जगत् में भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ भी हुआ था। बहरहाल, स्कूलों में शैक्षिक सामग्री जिसमें कि किताबें भी शामिल रही हैं पहुंचाने का काम कई बार हुआ है। मगर किताबें नन्हे हाथों तक पहुंचने के बजाए वे दीमकों के उदर का हिस्सा बन गईं। सामग्री स्कूल के उन कमरों में बंद ही पड़ी रहती है जहां कबाड़ा होता है। आज भी आप किसी पुराने स्कूल में चले जाएं, ऐसी सामग्री बच्चों की नज़र से वचिंत ही रही है। तो सवाल यह है कि स्कूलों के लिए किस प्रकार की सामग्री का चुनाव किया जा रहा है? और इससे भी बड़ा सवाल यह है कि क्या वह सामग्री अलमारियों में बंद रहेगी या बच्चों के हाथों में पहुंचेगी?

बिहार में हाल ही में जो किताबें पहुंचाई गई हैं उसके पीछे दृष्टि यही है कि वे बच्चों तक ज़रूर जाएं। और इस समझ के साथ कि बच्चे उन किताबों को अपनी मर्ज़ी से उलट–पलट करेंगे।

बिहार में हाल ही में जो किताबें पहुंचाई गई हैं उसके पीछे दृष्टि यही है कि वे बच्चों तक ज़रूर जाएं। और इस समझ के साथ कि बच्चे उन किताबों को अपनी मर्ज़ी से उलट–पलट करेंगे। यदि किताबें इस प्रक्रिया के दौरान फटेंगी या गुम होंगी तो उसका कोई स्पष्टीकरण शिक्षकों की ओर से नहीं मांगा जाएगा। मगर एक बात ज़रूर है कि किताबें अलमारियों में बंद नहीं रहनी चाहिए। तो एक तो बच्चों की पहुंच में किताबें हों। इसके पुख़्ता प्रबंध किए गए हैं। दूसरा सवाल है कि किताबों के चयन की प्रक्रिया क्या हो? पहली में जो बच्चा स्कूल आ रहा है उसको किस प्रकार की किताबें पढ़ना सीखने में मदद कर सकती हैं? इस तरह के सवालों पर एनसीईआरटी ने काफ़ी गहराई से सोचा और सार्थक कदम भी उठाए हैं। दरअसल एनसीईआरटी के निदेशक एवं प्रख्यात शिक्षाविद् प्रो. कृष्ण कुमार के नेतृत्व में इन सब मसलों पर काफ़ी गहराई से विचार हुआ है। ज़ाहिर है कि स्कूलों में क्या सामग्री जाए यह काफी गंभीर मामला है।

दरअसल विचार के स्तर पर इस कार्ययोजना को सबसे पहले अंजाम दिया गया एनसीईआरटी ने। एनसीईआरटी की ओर से मथुरा में पायलेट प्रोजेक्ट के तहत 500 स्कूलों में बच्चों के लिए पुस्तक कोना बनाया गया। इस पूरे कार्य के पीछे सोच थी कि बच्चा यदि पहली में यह नहीं समझ पाता है कि वह क्या पढ़ रहा है तो उसके लिए आगे का रास्ता कठिन हो जाता है। किताबों की दुनिया की कुछ रोशनी बच्चों की चौखट तक लाने का एक क़दम है मथुरा के वे 500 स्कूल जहां कक्षाओं में ही एक रीडिंग कार्नर बनाया गया। यहां पहली और दूसरी के बच्चों को ध्यान में रखते हुए चित्रों से सजी हुई किताबें जिनमें कम शब्द हों, वे बच्चों के संदर्भ से जुड़ें। इस पूरी प्रक्रिया में किताबों का चयन एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा माना गया। ज़ाहिर है कि किताबों की चयन प्रक्रिया हमारे यहां पर विवादों के घेरे में रही है। बच्चों के मनोविज्ञान और उनके संदर्भों को ध्यान में रखते हुए किताबों का चयन

किया गया। एनसीईआरटी ने यह कार्य प्रारंभ करने के पहले 50 स्कूलों में बेसलाइन अध्ययन किया कि बच्चे पढ़कर क्या समझते हैं। यह कार्य सर्व शिक्षा अभियान के तहत पहली और दूसरी के बच्चों के साथ प्रारभ किया गया। मथुरा परियोजना से जो अनुभव मिले वे एक तरह से नींव का पत्थर साबित हुए हैं। इस परियोजना के तहत ख़ासकर छोटे बच्चों को किस प्रकार की पठन सामग्री उपलब्ध कराई जानी चाहिए, उनके चयन की प्रक्रिया क्या होनी चाहिए? ऐसी पठन सामग्री कहां मौजूद है? जैसी कई क़वायदें प्रारंभ हो सकीं। मथुरा परियोजना के बाद हमारे देश में तमिलनाडु पहला राज्य है जहां प्राथमिक स्कूलों के स्तर पर पुस्तक कोने का विचार क्रियांवित किया गया है। हिंदी बेल्ट में यह ख़िताब बिहार ने पाया है जहां अब बच्चों को अपनी पसंद की किताबों से रूबरू होने का अवसर मिल रहा है।

पुस्तकों के चयन हेतु आयोजित दो दिवसीय कार्यशाला में चर्चा हुई कि चयनित पुस्तकें ऐसी हों जिन्हें देखने के बाद उन्हें छूने और पढ़ने की स्वाभाविक ललक बच्चों के मन में उठे। प्रकाशन की दुनिया के बड़े नामों के पीछे भागने के स्थान पर पुस्तकों की गुणवत्ता को प्राथमिकता दी जाए। बिहार के पुस्तक मेले में उन्हीं प्रकाशकों को भाग लेने की छूट मिली जिनकी किताबों का चुनाव किया गया। और उन्हीं किताबों को उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई जो चुनी गई है। बेशक, ये वे संस्थाएं हैं जो किताबों के प्रकाशन को लेकर सजग और चौकस रहती हैं। एकलव्य जो बच्चों के लिए पिछले तीन दशकों से कार्य कर रही है और बच्चों तथा शिक्षकों के मानसिक स्तर को ध्यान में रखते हुए किताबों का प्रकाशन करती आई है। आज एकलव्य का कैटलाग देखें तो इसमें सीखने–सिखानेवाली, अपने परिवेश से जोड़नेवाली दो–तीन साल के बच्चे से लगाकर एक युवा तक के लिए किताबों की श्रेणी पाई जा सकती है।

बिहार में ऐसी किताबों का चयन किया गया जो बच्चों के मन को छू सके, उन्हें आनंदित कर पाए तथा उनमें उमंग और उत्साह का संचार कर सके।

बिहार में ऐसी किताबों का चयन किया गया जो बच्चों के मन को छू सके, उन्हें आनंदित कर पाए तथा उनमें उमंग और उत्साह का संचार कर सके। बिहार शिक्षा परियोजना ने किताबों के चयन के लिए कोई दो दर्जन मापदंड अपनाए जिनमें से कुछ का ज़िक्र करना प्रासंगिक होगा। किताबें ऐसी हों जो बच्चों के परिवेश से जुड़ी हों। किताबों की छपाई आकर्षक हो। चित्र सुस्पष्ट, बड़े हों और विषयवस्तु से उनका जुड़ाव हो साथ ही बोलते हुए प्रतीत हों। अक्षर बड़े हों। कथानक रोचक एवं छोटा हो। वाक्य–रचना सार्थक हो। पन्नों को छूने में अच्छा लगने का अहसास हो। बच्चों के पूर्व अनुभव को दृढ़ करनेवाली हों। कल्पनाशीलता एवं सृजनशीलता की वृद्धि में सहायक हों। पुस्तकें एवं उनके चित्र बच्चों के पूर्व अनुभव को जीवन्त कर देनेवाली हों। ये वे मापदंड हैं जो मथुरा की स्कूलों में बच्चों के साथ उन किताबों को उपलब्ध कराकर समझ बनी। ऐसी किताबों की एक फेहरिस्त बनाई गई। साथ ही एनसीईआरटी की ओर से मथुरा के संदर्भ में जो अनुभव अर्जित किए गए उनको आधार बनाकर किताबों का समूहीकरण किया गया।

समूहीकरण का एक आधार यह रखा गया कि जो बच्चे स्कूल में आना सीख ही रहे हैं उनके लिए शब्द रहित मगर चित्रात्मक किताबें होनी चाहिए। किताबों के चित्र बाल–अनुभव से जुड़े, स्पष्ट तथा बहुरंगी हों इसका ध्यान रखा गया। ऐसी किताबें जिनके पन्नों पर बच्चों के अनुभव से जुड़ी उन घटनाओं के चित्र जिन्हें बच्चा रोज़मर्रा की ज़िंदगी में घटते देखता है, को प्राथमिकता दी गई। ऐसी चित्रोंवाली पुस्तकें जो बच्चे को बरबस आकर्षित कर सकें तथा उनके आधार पर उन्हें बातचीत करने का अवसर मिल सके, उसे चुनने का प्रयास किया गया।

के. आर. शर्मा, विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र उदयपुर में कार्यरत।

पुस्तकालय तेरे रूप अनेक

ऋचा गोस्वामी

मुझे अपने स्कूल के शिक्षकों में जो बहुत अच्छे से याद हैं, स्कूल की लाइब्रेरी इंचार्ज। एक तो वो हमेशा मुस्कराकर बात करती थीं और दूसरा उनके पास पुस्तकों का एक ऐसा ख़ाज़ाना था, जिसमें मेरी बेहद दिलचस्पी थी। वो भी आतुर थीं मुझसे और मेरे जैसे हर विद्यार्थी से उस ख़ज़ाने को बांटने के लिए। यह शायद अहम कारण है कि मेरी दिलचस्पी किताबों में न केवल बनी रही बल्कि साल दर साल बढ़ती गई।

मेरे स्कूल का पुस्तकालय न ज़्यादा बड़ा न बहुत छोटा ही था। हां, पर 7–8 साल की उम्र में जब मैं पहली बार वहां गई थी तब ज़रूर बहुत विशाल लगा था। एक बड़ा सा हॉल जिसमें 50 लोग आराम से बैठकर किताबें पढ़ सकते थे। चारों तरफ़ ऊंची रेक जिनमें शीशे लगे थे। एक तरफ़ टेल मी हाऊ? व्हाई? व्हैन? आदि का कलेक्शन था। मैंने तो ज़्यादा कभी उन्हें पढ़ा नहीं पर पृष्ठ पलटना और वो चित्र देखना भी काफ़ी मज़ेदार था। दूसरी तरफ़ साहित्य जो कि उम्र के हिसाब से लगा हुआ था, और उसके बाद वो किताबें आती थीं जिनसे मेरा वास्ता ग्यारहवीं में ही पड़ा। नज़र पहले भी पड़ी थी क्योंकि वो दिखने में ही दैत्याकार थीं। छोटी क्लासों में मैडम लाइन से किताब बांट देती थी, पर कुछ साल बाद किताब चुनने की आज़ादी मिल गई। कई बार बहुत देर रैक के सामने खड़े होकर किताबों को देखते रहते पर कौन सी किताब लेनी है यह चुन नहीं पाते थे। ऐसे में डांट भी पड़ती थी क्योंकि पीरियड तो चालीस मिनट का ही था। अब लगता है कि दस किताब पलटकर ख़ुद से चुनने की बच्चों के लिए कितनी अहमीयत है।

हमारी लाइब्रेरी इंजार्ज की एक और ख़ास बात यह थी कि उन्हें ज़्यादातर बच्चों के स्तर का पूरा ध्यान रहता था। और वो सबको आगे बढ़ने के लिए उकसाती थीं। ''कब तक एनिड ब्लाइटन पढ़ोगी, अब हार्डी ब्वाएज़ पढ़कर देखो।'' हम मना करते पर वो दो–तीन बार में समझा ही लेतीं कि हमें पढ़कर देखना ही चाहिए।

मेरा स्कूल इंग्लिश मीडियम था। और अंग्रेज़ी को बढ़ावा देने के लिए हिंदी को दबा दिया जाता है। बहुत से शिक्षकों के कालांश में हिंदी बोलने पर मूल्य दंड लगता था। ऐसा ही सौतेला व्यवहार पुस्तकालय में हिन्दी साहित्य के साथ होता था। छोटे बच्चों के लिए हिन्दी में कुछ था भी ऐसा तो मुझे याद नहीं पड़ता पर प्रेमचन्द जैसे प्रमुख लेखकों, हिन्दी व्याकरण की किताबें आदि थीं। पर यह रैक ऐसे कोने में थी जहां नज़र, पहुंचना भी कठिन था।

पिछले कुछ सालों में मैंने बहुत से स्कूल देखे और उन पुस्तकालयों के बारे में यहां कुछ बातचीत करना चाहती हूं।

दिल्ली के एक नामी प्राइवेट स्कूल से बात शुरू करें। यहां स्कूल की बिल्डिंग तीन हिस्सों में हैं– नर्सरी से तीसरी एक बिल्डिंग में, चौथी से आठवीं दूसरी में और नवीं से बाहरवीं तीसरी बिल्डिंग में। प्रत्येक हिस्से में लाइब्रेरी उस उम्र के बच्चों के लिए। बाद में मैंने जाना कि बहुत से स्कूलों में अब छोटे बच्चों के लिए अलग से लाइब्रेरी होती है।

एक प्रसिद्ध स्कूल में हमने देखा कि लाइब्रेरी के एक कोने में छोटे बच्चों की किताबोंवाली दो छोटी रैक थीं। यहां जमीन पर बैठने के लिए भी जगह थी और कम ऊंचाई के कुर्सी मेज़ भी। एक और ख़ास बात जो इस लाइब्रेरी में हमने देखी वो थी सफ़ाई। कहीं धूल का एक कण भी नहीं। कोई किताब उपेक्षित और धूल खाई हुई नहीं थी।

एक प्रसिद्ध स्कूल में हमने देखा कि लाइब्रेरी के एक कोने में छोटे बच्चों की किताबोंवाली दो छोटी रेक थीं। यहां ज़मीन पर बैठने के लिए भी जगह थी और कम ऊंचाई के कुर्सी मेज़ भी। एक और ख़ास बात जो इस लाइब्रेरी में हमने देखी वो थी सफ़ाई। कहीं धूल का एक कण भी नहीं। कोई किताब उपेक्षित और धूल खाई हुई नहीं थी। बच्चे अपनी चप्पलें उतारकर पुस्तकालय में आते थे। कुछ और नहीं पर यह एक मानसिक तैयारी तो है ही कि अब मैं पुस्तकालय में हूं और यह एक ख़ास जगह है।

दिल्ली के एक प्राथमिक स्कूल में मैंने लाइब्रेरी की अवधारणा को बेहद विस्तृत होते देखा। यहां इसे रिसोर्स रूम कहा जाता है। इस कमरे में किताबों के अलावा ख़ूब सारे गेम्स, पज़ल्स, शिक्षण सामग्री बच्चों के प्रोजेक्ट्स आदि भी रहते हैं।

एक दूसरे स्कूल में मैंने देखी पिक्चर लाइब्रेरी। इसे स्कूल के सभी शिक्षक मिलकर संभालते हैं। जिसे जो पत्रिका (पुरानी और लाइब्रेरी के बाहर की) हाथ लगी उसमें से चित्र काटकर रख लिए। हफ़्ते में एक बार कुछ शिक्षक मिल कर बैठते हैं और उन्हें वर्गीकृत करके रख देते हैं। इनका उपयोग बच्चे और शिक्षक सभी कर सकते हैं।

एक और साधारण सी लाइब्रेरी की ख़ास बात याद आ गई जिसका ज़िक्र होना चाहिए। बच्चों द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएं! यहां बच्चे साल में दो बार पत्रिका निकालते हैं। जिसमें कहानी, कविता, लेख, चित्रांकन सभी बच्चे स्वयं करते हैं। और हां, इस पत्रिका की प्रतियां नहीं होतीं क्योंकि फाइनल प्रति तक पहुंचने के लिए कई ड्राफ़्ट बनते हैं और प्रति बनाने की शायद हिम्मत नहीं बचती।

स्कूल लाइब्रेरी से हटकर क्लास लाइब्रेरी की बात करें। इसके असंख्य मॉडल हो सकते हैं। सबसे पहला तो जो मेरी छठी कक्षा की शिक्षिका ने किया। उन्होंने हम सबसे एक–एक पुस्तक लाकर जमा करने को कहा और बस लाइब्रेरी शुरू!

फिर दूसरा तरीक़ा है जिसमें आप स्कूल लाइब्रेरी से ही किताबें लाकर अपनी कक्षा में रखें और बच्चों को पढ़ने का समय दें।

किताबें कहां कैसे रखी हैं यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुछ कक्षाओं में किताबें अलमारी में रखी जाती हैं और चाबी शिक्षक के पास रहती है। अब जब मैडम का मन होगा तो किताब हाथ आएगी। कुछ कक्षाओं में चाबी किसी बच्चे के पास रहती हैं। यहां भी डर यही है कि आप बच्चों में से किसी एक को शिक्षकीय व्यवहार सौंप रहे हैं।

पर कुछ शिक्षक हिम्मत दिखाकर किताबें बाहर रख देते हैं कि बच्चे जब चाहें किताब उठाएं, पन्ने पलटें और शायद पढ़ें भी। ऐसी ही एक क्लास लाइब्रेरी चलानेवाली शिक्षिका ने बताया कि अब उनके बच्चे अपने विषय का काम ख़त्म करके कई बार स्वयं ही किताब उठाकर पढ़ने लगते हैं। यह स्थिति हमको पसंद आ सकती है। पर यह न भूलें कि यहां

जो छात्राएं पढ़ नहीं पातीं वो भी किताबें ले रही थीं, क्योंकि उन्हें किसी से मांगना नहीं पड़ रहा था। ऐसी ही एक छात्रा थी संगीता जो रोज़ गुब्बारों के चित्रोंवाली किताब लेती। यदि कोई और लेता तो झगड़ा भी कर लेती। एक दिन मैंने उसे उसमें से कहानी पढ़कर सुनाई और तब से किताब और संगीता का रिश्ता बहुत गहरा हो गया।

तक पहुंचने से पहले यह ज़रूरी है कि बच्चों को ख़ूब समय और प्रोत्साहन देकर किताबों से जोड़ें।

क्लास लाइब्रेरी का एक मॉडल है कक्षा में रस्सी बांधकर किताब उस पर लटका दें। रंग–बिरंगे कवर पेज ख़ुद ही बच्चों को अपनी तरफ़ खींचेंगे।

यह तरीक़ा संस्थाओं और चल पुस्तकालय चलानेवालों में ख़ूब प्रचलित है। मैंने भी अपनी कक्षा में ऐसा किया और दो सुखद अनुभव यहां बता रही हूं। मैं उस समय तीसरी कक्षा पढ़ा रही थी और मैंने पाया कि–

- बहुत कम समय में मेरी कक्षा की छात्राओं (केवल लड़कियों का स्कूल था इसलिए) ने सुबह आकर किताबें सजाने और दोपहर में उन्हें सम्भालने की ज़िम्मेदारी ले ली।
- जो छात्राएं पढ़ नहीं पातीं वो भी किताबें ले रही थीं, क्योंकि उन्हें किसी से मांगना नहीं पड़ रहा था। ऐसी ही एक छात्रा थी संगीता जो रोज़ गुब्बारों के चित्रोंवाली किताब लेती। यदि कोई और लेता तो झगड़ा भी कर लेती। एक दिन मैंने उसे उसमें से कहानी पढ़कर सुनाई और तब से किताब और संगीता का रिश्ता बहुत गहरा हो गया।

अब अंत में हम सरकारी स्कूलों की बात करें। मैं यहां तीन उदाहरणों के ज़रिए स्थिति बयान करना चाहती हूं। पाठकों से निवेदन है कि सामान्यीकरण करने से बचें।

सरकारी स्कूल में पुस्तकालय के नाम पर कुछ किताबें तो ज़रूर आती हैं। पर जगह के अभाव से उन्हें एक अलमारी में बंद करके रखा जाता है। सबसे बड़ा डर तो प्रधानाध्यापकों और शिक्षकों को ऑडिट का है। यदि बच्चों को किताबें दी गईं और वो फट गईं या खो गईं तो इसकी जवाबदेही किसकी होगी? इस डर से अलमारियों पर लगे ताले कम ही खुलते हैं और किताबों को बच्चों का स्पर्श कम ही मिलता है।

ऐसी स्थिति में आशा की एक किरण नज़र आई दिल्ली के ही एक प्राथमिक विद्यालय में, यहां ताला हर दो महीने में खुल जाता है और किताबें शिक्षकों के नाम पर इश्यू हो जाती हैं। अब जवाबदेही और ज़िम्मेदारी बंट गई। इस स्कूल में भी कुछ शिक्षक किताबों को छोटे ताले के पीछे छिपाने की कोशिश करते हैं।

तीसरा सरकारी स्कूल जिसका ज़िक्र मैं यहां करना चाहती हूं वह दसवीं तक का था। और यहां बड़ा सा कमरा पुस्तकालय के नाम था। मैंने इस स्कूल में तीन महीने बतौर प्रशिक्षणार्थी काम किया। मैं अपने तीसरी के बच्चों को यहां ले जाना चाहती थी। बड़ी मुश्किलों से इजाज़त मिली और जाकर पाया कि बाल साहित्य के नाम पर एनबीटी की कुछ फटी हुई और कुछ अंग्रेज़ी की किताबें ही वहां थीं।

पुस्तकालय की इस पूरी चर्चा में अब तक अनकही पर महत्त्वपूर्ण बात है पढ़ने की क्षमता। जब मैं पांचवीं कक्षा में ऐसे बच्चे देखती हूं जो पढ़ नहीं पाते तब सर्व शिक्षा अभियान की सार्थकता पर शक होने लगता है। ऐसे में पुस्तकालय की अहमियत को कम आंकने की भूल हम कर ही नहीं सकते। ख़ूब जानी–पहचानी पर वास्तविक शिक्षण में उपेक्षित बात पर ख़त्म कर रही हूं ''बच्चे पढ़–पढ़कर ही पढ़ना सीखते हैं।''

ऋचा गोस्वामी, विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र, उदयपुर में कार्यरत।

कोई लौटा दे मेरे बचपन के दिन

वि.वि. सिंह

कक्षा एक से दसवीं तक मैं जिस स्कूल में पढ़ी, वह अच्छा ख़ासा स्कूल था, पर पुस्तकालय कक्ष नाम की वहां कोई चीज़ नहीं थी। बहुरूपों में प्रयुक्त होनेवाले मध्यम आकार के एक कक्ष की दीवार में बनी चार खण्डोंवाली अलमारी में कुछ किताबें रखी रहती थीं, जिसके पल्ले लकड़ी के थे और बाहर से उसमें रखा कुछ नज़र नहीं आता था। महीने–पन्द्रह दिन में एक कालांश में एक शिक्षिका कुछ किताबें मेज़ पर रख देतीं और जो छात्राएं लेना चाहतीं, वे इश्यू करवा लेतीं। कौन–कौन सी किताबें हैं, यह देखने या अलमारी के अन्दर झांकने का सुअवसर कभी न मिला। इश्यू करवाने के लिए जो किताबें वहां रखी जातीं, वे उपन्यास या कहानी संग्रह होते थे, किन्तु बच्चों के लिए प्रकाशित किताबों का सर्वथा अभाव था। मुझे याद है कक्षा आठ में प्रेमचन्द द्वारा लिखित 'मानसरोवर' के भाग 1 से 8 तक एक–एक कर इश्यू करवाकर उसी ज़माने से पढ़ा था। पाठ्यपुस्तकों के अलावा अन्य पुस्तकों के बारे में कोई चर्चा स्कूल में न होती, न ही अलग से कुछ पढ़ने के लिए कोई प्रोत्साहन था। यहां तक कि कौन–कौन सी अच्छी किताबें हैं, जो पढ़ी जा सकती हैं इसके बारे में कोई चर्चा ही नहीं होती थी। आज भी प्राइमरी और मिडिल स्कूलों में हालात इससे बहुत बेहतर नहीं हुए हैं। सैकण्डरी और सीनियर सैकण्डरी स्कूलों में पुस्तकालय तो होते ही हैं पर बच्चों को उनका कितना लाभ मिलता है, वे उनका कितना उपयोग करते हैं – सर्वेक्षण का विषय हो सकता है। बच्चों के लिए एक काव्य संग्रह की पुस्तक हमारे भाई को जन्मदिन पर उपहार में मिली थी। वह भी एक खादीधारी स्वतन्त्रता सेनानी, जिनका घर पर आना–जाना था, उन्होंने भेंट की थी वरना तो खिलौने या कपड़े ही आम तौर पर बच्चों को गिफ्ट किए जाते हैं। वह पुस्तक हम भाई–बहनों ने बिना किसी प्रोत्साहन के इतनी बार पढ़ी कि हमें वे कविताएं रट सी गईं और बहुत बाद तक अंत्याक्षरी खेलने में हमें बहुत काम आती रहीं, क्योंकि उस ज़माने में फ़िल्मी गाने अन्त्याक्षरी में स्वीकारे नहीं जाते थे। ऐसे ही अलग से पढ़ी कुछ कविताएं या पाठ्यपुस्तकों की कविताएं काम आतीं, जिसमें कबीर और रहीम के दोहे बड़े अच्छे रहते। आज सोचती हूं कि काव्य रचना में शायद बचपन में पढ़ी उन कविताओं से प्रेरणा अवश्य मिली होगी, क्योंकि जो पढ़ा जाए वह अवचेतन में अवश्य रहता है और परोक्ष रूप से उत्प्रेरक का काम भी करता है।

एक और पतली सी किताब जो मुझे कक्षा तीसरी में प्रथम आने पर पुरस्कार स्वरूप मिली थी, वह अंग्रेज़ी की

'राजकुमारी और सात बौने' किताब थी। इतने अच्छे चित्र थे और इस तरह उसमें कटिंग की गई थी कि कुछ उभर आते थे। उसमें भी जंगल के दृश्य और बौनों का घर आदि के बड़े अच्छे चित्र थे, जो एक कल्पना लोक में ले जाने में सहायक थे।

बचपन में यह अवसर मिलने से बच्चों का ज्ञान, शब्द भण्डार बढ़ता है, पढ़ने में रुचि विकसित होती है, सृजनात्मकता का विकास होता है, साथ ही कल्पनाशीलता भी बढ़ती है।

बाल पत्रिकाओं का उस समय अभाव सा था। 'चंदा मामा' अवश्य स्तर की बाल पत्रिका थी और अत्यन्त लोकप्रिय भी थी। पर स्कूल में वह कभी दिखी नहीं। कुछ जागरूक माता–पिता अवश्य घरों में वह मंगवाते थे, किन्तु वह आम नहीं थी। दसवीं उत्तीर्ण करने के बाद मैं जिस इंटरमीडियेट कॉलेज में गई और फिर चार वर्षों तक वहीं पढ़ी, वह एक अमेरिकन एडेड कॉलेज था और साधन सुविधाओं से युक्त था। सबसे अच्छी बात थी कि वहां पुस्तकालय की एक अलग बिल्डिंग थी। बड़ा अच्छा माहौल और ढेरों–ढेर किताबें। ओपन शैल्फ़ थे। एक बार घूमकर देखने पर ही किताबें नज़र आ जातीं और आकर्षित करतीं। किताबों में काड्र्स होते थे उससे किताब इश्यू होतीं और एक या दो किताबें ही इश्यू होंगी – ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं था।

वहां की दो बातें अनुकरणीय हो सकती हैं। पहला वहां एक रिज़र्व शैल्फ़ था, जिसमें ऐसी किताबें रखी जातीं जो कोर्स में सहायक पुस्तकें होती थीं। विषयवार वे खण्डों में जमीं होतीं और सिर्फ़ एक पीरियड के लिए इश्यू होतीं। छात्राएं अपने रिक्त कालांशों में किताब लेतीं, वहीं बैठकर पढ़तीं और घण्टी बजने पर उसे वापस करना होता। ज़्यादा काम में आनेवाली ये किताबें इस तरह ज़्यादा छात्राएं पढ़ पातीं। किताब लेकर उसके कार्ड पर, जो लम्बाई में बड़ा होता, हस्ताक्षर करके एक डिब्बे में डाल दिया जाता। घण्टी बजने पर वापस करने के लिए आने पर वे कार्ड टेबल पर व्यवस्थित जमे होते और सभी के शीर्षक एक दृष्टि में नज़र आते जिससे अपनी किताब का कार्ड ढूंढने में समय नष्ट नहीं होता। यह सारी व्यवस्था छात्राओं द्वारा ही की जाती। इतनी बड़ी लाइब्रेरी में सिर्फ़ एक लाइब्रेरियन थीं और छात्राएं सहयोग करती थीं, जिसके लिए उन्हें 'बुक एड' के रूप में कुछ आर्थिक सहयोग राशि मिलती थी। इसके लिए नाम मांग लिए जाते थे और कुछ कालांशों में वे लाइब्रेरी में काम में सहयोग देती थीं। मैं सोचती हूं यह भी कितनी अच्छी व्यवस्था थी। छात्राओं को श्रम करने व स्व अर्जन का मौक़ा मिलता था। लाइब्रेरियन को इतने हाथ मदद के लिए मिलते। शायद इसीलिए वह लाइब्रेरी हमेशा ही इतनी साफ़–सुथरी जमी हुई होती थी।

नए–नए प्रकाशन वहां आ जाते। ढेरों पत्रिकाएं हिन्दी की, अंग्रेज़ी की आती थीं। छुट्टी के बाद वह भी इश्यू करवाने की व्यवस्था थी। एक छात्रा एक ही पत्रिका इश्यू करवा सकती थी और अगले दिन कॉलेज शुरू होने से पहले अर्थात् वार्निंग बेल से पहले वह वापस करनी आवश्यक थी। इस नियम का कठोरता से पालन किया जाता था। शायद यह ज़रूरी भी था तभी ज़्यादा लोग उसका लाभ उठा सकते हैं वरना तो घर ले जाने की छूट देने पर पत्रिकाएं कई दिनों के लिए अटक जाती हैं – यही देखने में आता है।

बाल्यकाल में अच्छी पुस्तकों, बाल पत्रिकाओं व प्रोत्साहन का अभाव मुझे खटकता है। कभी–कभी लगता है बचपन वापस आ जाए, अच्छी–अच्छी किताबें हों और मैं होऊं। आज भी जब अच्छी जिल्दवाली बच्चों की सचित्र किताबें देखती हूं तो पढ़ने का मन करता है पर वह हो नहीं पाता। कहां से लाऊं वह बाल मन, वह उमंग, वह उतनी फ़ुर्सत? इसीलिए सोचती हूं मेरा बचपन मुझे लौटा दिया जाए। पर वह कहां संभव है? इसीलिए शायद बच्चों के लिए पुस्तकालय शुरू करने, चलाने की बात आती है तो उसमें मैं पूरी रुचि लेती हूं और भरसक अपना सहयोग भी देती हूं। क्योंकि मेरा यह निश्चित रूप से मानना है कि हर उम्र के बच्चों को उनके स्तर के अनुकूल किताबें, बालपत्रिकाएं मिलनी ही चाहिए।

बचपन में यह अवसर मिलने से बच्चों का ज्ञान, शब्द भण्डार बढ़ता है, पढ़ने में रुचि विकसित होती है, सृजनात्मकता का विकास होता है, साथ ही कल्पनाशीलता भी बढ़ती है।

वि.वि. सिंह, वर्तमान में विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में कार्यरत। पूर्व में विद्या भवन जूनियर स्कूल में प्रधानाध्यापिका थीं।

व्यंग्य

अश्लील पुस्तकें

हरिशंकर परसाई

शहर में ऐसा शोर था कि अश्लील साहित्य का बहुत प्रचार हो रहा है। अख़बारों में समाचार और नागरिकों के पत्र छपते कि सड़कों के किनारे खुलेआम अश्लील पुस्तकें बिक रही हैं।

दस–बारह उत्साही समाज–सुधारक युवकों ने टोली बनायी और तय किया कि जहां भी मिलेगा हम ऐसे साहित्य को छीन लेंगे और उसकी सार्वजनिक होली जलायेंगे।

उन्होंने एक दूकान पर छापा मारकर बीस–पच्चीस अश्लील पुस्तकें हाथों में की। हरेक के पास दो या तीन किताबें थीं। मुखिया ने कहा–आज तो देर हो गयी। कल शाम को अख़बार को सूचना देकर परसों किसी सार्वजनिक स्थान में इन्हें जलायेंगे। प्रचार करने से दूसरे लोगों पर भी असर पड़ेगा। कल शाम को सब मेरे घर पर मिलो। पुस्तकें मैं इकट्ठी अभी घर नहीं ले जा सकता। बीस–पच्चीस हैं। पिताजी और चाचाजी हैं। देख लेंगे तो आफ़त हो जायेगी। ये दो–तीन किताबें तुम लोग छिपाकर घर ले जाओ। कल शाम को ले आना।

दूसरे दिन शाम को सब मिले पर किताबें कोई नहीं लाया था। मुखिया ने कहा... किताबें दो तो मैं इस बोरे में छिपाकर रख दूं। फिर कल जलाने की जगह बोरा ले चलेंगे।

किताब कोई लाया नहीं था।

एक ने कहा– कल नहीं, परसों जलाना। पढ़ तो लें।

दूसरे ने कहा– अभी हम पढ़ रहे हैं। किताबों को दो–तीन दिन बाद जला देना। अब तो किताबें जब्त ही कर ली।

उस दिन जलाने का कार्यक्रम नहीं बन सका। तीसरे दिन फिर किताबें लेकर मिलने का तय हुआ।

तीसरे दिन भी कोई किताबें नहीं लाया।

एक ने कहा– अरे यार, फादर के हाथ किताबें पड़ गयीं। वे पढ़ रहे हैं।

दूसरे ने कहा– अंकिल पढ़ लें, तब ले आऊंगा।

तीसरे ने कहा– भाभी उठाकर ले गयी। बोली कि दो–तीन दिनों में पढ़कर वापस कर दूंगी।

चौथे ने कहा– अरे, पड़ोस की चाची मेरी ग़ैरहाज़िरी में उठा ले गयी। पढ़ लें तो दो–तीन दिन में जला देंगे।

अश्लील पुस्तकें कभी नहीं जलायी गयीं। वे अब अधिक व्यवस्थित ढंग से पढ़ी जा रही हैं।

अश्लील पुस्तकें, व्यंग्यकार– **हरिशंकर परसाई,** परसाई रचनावली–2 से साभार

मशविरा

प्रारंभिक शिक्षा से जुड़े मौलिक मुद्दों को खोजबीन अंक–4 (स्कूल) में बख़ूबी प्रस्तुत किया गया है। इसकी विभिन्न प्रकार की सामग्रियां जैसे– लेख, रिपोर्ट, कविता, लघु नाटक, कहानियां, विविध परिप्रेक्ष्यों से मुद्दों पर नज़र डालती हैं। लेख बड़े ही मौलिक प्रश्न उठाते हैं कि कुछ समय के बाद बच्चे स्कूल जाना क्यों बंद कर देते हैं? स्कूल में होनेवाले काम बच्चों को अर्थपूर्ण लगे, इसके प्रति बच्चों को प्रेरित करने के लिए सुझाव देता है। विभिन्न संभाषणों के अलावा, पत्रिका के पॉजिटिव फ़ीचर भी हैं। कुछ ब्लैक एडं व्हाइट चित्र सम्मोहित करते हैं और ये रेखाचित्र के साथ अतिरिक्ति आयाम लेख को प्रदान करते हैं। हमारे स्कूल के खिन्न, नीरस और कारुणिक चित्र में कार्टून निश्चय ही मसाले का काम करते हैं। लेख के शुरू में संपादकीय हस्तक्षेप के रूप में संक्षिप्त सारांश उन पाठकों की मदद करता है जिनकी व्यस्त दिनचर्या के चलते पढ़ने के लिए अत्यल्प समय है। एक या दो कॉलम में संकलित लेख अधिक पठनीय बन गए हैं। यदि सामग्री ज़्यादा है तो कई लेखों को तीन कॉलम में भी प्रकाशित किया गया है।

'संपादक के नाम पत्र' पत्रिका का अतिरिक्त सेक्शन हो सकता है। पत्रिका को अधिक इंटरेक्टिव बनाने में यह सेक्शन मदद करेगा। बच्चों के योगदान को स्थान देने के लिए 'बच्चों की आवाज़' की तरह का कोना पत्रिका में होना चाहिए। इस अंक में जो मुद्दे हैं उन पर बच्चे क्या सोचते हैं? के लिए यह न केवल आदर का संकेत है बल्कि बच्चे पत्रिकारूपी जीवन में भी सांस लेंगे। यह प्रयास वयस्कों के संभाषण की एकरूपता से उन्हें बचा सकता है।

ए.एल. खन्ना
शिवाजी कालेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) में अंग्रेज़ी पढ़ाते थे। वर्तमान में स्कूली शिक्षा से जुड़े हैं।

विद्या भवन संदर्भ केन्द्र की खोजबीन पत्रिका का अंक 3 ''परीक्षा...परीक्षा...परीक्षा'' पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वास्तव में यह शिक्षक वर्ग के लिए बहुत ही उपयोगी है। इस अंक में मूल्यांकन के बारे में काफ़ी उपयोगी जानकारियां दी गई हैं।

मैं भी एक शिक्षक हूं व इस पत्रिका का नियमित पाठक बनना चाहता हूं। मुझे यह पत्रिका किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? साथ ही इस पत्रिका के अंतिम पृष्ठ पर ''पिटारा'' के बारे में भी एक झलक दी गई है।

इसके बारे में जानकारी प्रदान करने की कृपा करें। यदि संभव हो तो ''खोजबीन'' का अगला अंक और पिटारा साहित्य निम्न पते पर डाक के माध्यम से भेजें।

योगेश पाण्डेय
जगदम्बे भवन, टकाना चौक,
पिथौरागढ़, (उत्तराखण्ड)

जूता या किताब

राग तेलंग

ब्रांडेड कंपनी का जूता या किताब?
हां!
अब वक़्त आ गया है जब किताबों की तुलना जूतों से करनी पड़े।
हां!
या तो यह तुम्हारी नीयत पर सवाल उठाना है
या फिर
यह किताबों और अगली पीढ़ी पर बनते तुम्हारे दायित्व व उसके बोध के प्रति संदेह की अभिव्यक्ति है
या तो अभी इसी वक़्त
तुम्हें किताबों से होते हुए तय की गई
अपनी समूची जीवन यात्रा के बारे में ठीक तरह से सोच लेना है
या फिर
शिखर से नीचे की ओर किताबों की सीढ़ी की ओर देखना भर है
फिर तुम्हारे ऊपर है
तुम इस सीढ़ी को लात मार दो जूता पहनकर
या सहेजे रखो कभी वक़्त ज़रूरत के लिए
क्या सोच रहे हो?
ठीक है
तुम्हारा फैसला सिर माथे पर
माना बाज़ार की चीज़ों के प्रति लालच से उबरना मुश्किल ज़रूर है
ये जगमग
ये मोहक बुलावे
तुम्हें लगता है
तुम्हारे लिए हैं
तो तुम्हारे लिए सही
अब तो
तुम्हें ही तय करना है
जूता या किताब!

राग तेलंग, बीएसएनएल भोपाल में कार्यरत। समकालीन हिन्दी कविता के चर्चित युवा हस्ताक्षर।

विद्या भवन के कक्षा पुस्तकालयों की कहानी तस्वीरों के जुबानी